ईशान्य विभा

वर्ष - 1 | अंक - 2
सितम्बर 2025

विशेषांक

लोकपरंपराओं में पर्यावरण चेतना

विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र
असम प्रकाशन भारती (प्रथम तल), राधा गोविन्द बरुआ रोड़,
गुवाहाटी, असम - 781005

ईशान्य विभा

(विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र की अर्धवार्षिक पत्रिका)

■ वर्ष 1 ■ अंक 2 ◆ हिंदी दिवस विशेषांक ◆ ■ सितंबर 2025 मूल्य - रुपये 180/-

मार्गदर्शक
प्रो. गंगा प्रसाद परसाई,
अध्यक्ष, विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र
डॉ. जगदींद्र रायचौधुरी,
मंत्री, विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र
डॉ. पवन तिवारी,
संगठन मंत्री, विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र
श्री दीपांकर बोरा,
सचिव, असम प्रकाशन भारती

संपादक
डॉ. मिलन रानी जमातिया,
हिंदी विभागाध्यक्ष, त्रिपुरा विश्वविद्यालय

संपादक मंडल
डॉ. जोराम आनिया, सह प्राध्यापक,
डी. एन. शासकीय महाविद्यालय, इटानगर
डॉ. अभिजित पायेंग,
सहायक प्राध्यापक, गौहाटी विश्वविद्यालय
डॉ. साईनाथ विट्ठल चपले,
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, नेहू
डॉ. योगेन्द्र भारद्वाज, सहायकाचार्य,
केंद्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली

संपादन सहायक
लालजी सोनारी
विकाश शर्मा

आवरण सज्जा
रूपम बसुमतारी

प्रकाशन कार्यालय
विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र
असम प्रकाशन भारती, प्रथम तल,
नामघर पथ, आर जी बरुआ रोड,
गुवाहाटी - 781005 (असम)
दूरभाष - +91-60009-05472
ईमेल -
vbpurvottarkshetra@gmail.com

अनुक्रमणिका

1. संपादकीय		6
2. रामचरित मानस में पर्यावरण चेतना	साभारः राष्ट्रीय शिक्षा	7
3. जनजातीय जीवन और पर्यावरण संतुलन	डॉ. संजय यादव	10
4. त्रिपुरा की जमातिया जनजाति की पूजा-पद्धति	डॉ मिलन रानी जमातिया	13
5. मिसिङ् जनजाति की समाज, संस्कृति और अर्थनीति : एक समीक्षा	डॉ. अभिजित पायेङ्	24
6. विद्यालयों में लोकपरंपरा आधारित पर्यावरण शिक्षा	विकाश शर्मा	31
7. प्रकृति और सहजीवन की अवधारणा: रियांग लोकगीतों के संदर्भ में	आरती रियांग	35
8. पर्व त्यौहारों में पर्यावरण चेतना	नम्रता बनिक	39
9. त्रिपुरी लोक साहित्य में पर्यावरण चेतना	रीता त्रिपुरा	44
10. असम के पर्व-त्योहारों में पर्यावरण चेतना : चाय जनगोष्ठी के विशेष संदर्भ में	लालजी सोनारी	48
11. देबबर्मा समाज और पर्यावरण	मोलिना देबबर्मा	53
12. चाकमा लोक कथाओं के माध्यम से पर्यावरण चेतना : एक सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य	मुन्नी चाकमा	57
13. रियांग जनजाति की पारंपरिक कृषि पद्धति में प्रकृति संरक्षण	जितेंद्र रियांग	60
14. लोककथाओं और लोकगीतों में प्रकृति	अंजलि प्रसाद	65
15. पूर्वोत्तर भारत की लोकपरंपराओं में प्रकृति पूजा	ज्योति पाल	67
16. लोककथा और लोकगीतों में प्रकृति	मनमणि शर्मा	69
17. पूजा-पाठ, हवन विधान और पर्यावरण संरक्षण	फाल्गुन उपाध्याय	72
18. पूर्वोत्तर भारत की लोकपरंपराओं में प्रकृति पूजा	इगुआतुइंग कुआमे	74
19. त्योहारों में पर्यावरण: सनातनी परंपराओं की जैविक चेतना	विवेकानंद देव पुरकायस्थ	76
20. पर्यावरण संरक्षण के विषय में क्या है भारतीय दृष्टि	साभारः राष्ट्रीय शिक्षा	78
21. असम की खेलमा जनजातिः एक संक्षिप्त परिचय	होइचुंगलिएन खेलमा	80
22. छविमुरा/ चाक्राकमा: त्रिपुरा की रहस्यमयी कहानी	खाकुचांग जमातिया	82
23. जहाँ पर्वों में प्रकृति मुस्कराती है (कहानी)	चंद्र कुमार ग्वाला	85

ईशान्य विभा का इंटरनेट संस्करण पढ़ने के लिए कृपया इस क्यूआर कोड को स्कैन करें -

पत्रिका में प्रकाशित विचार रचनाकारों के हैं। पत्रिका की सहमति आवश्यक नहीं है।

विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र
प्रथम तल, असम प्रकाशन भारती,
आर.जी.बरुआ रोड, गुवाहाटी-05 (असम)

Vidya Bharati Purvottar Kshetra
1st Floor, Asom Prakashan Bharati,
R.G. B. Road, Guwahati-05 (Assam)

(Affiliated to Vidya Bharati Akhil Bharatiya Shiksha Sansthan, New Delhi)
Regd. No. : Kam(M)/240/A-27/170 of 2011-12

☎ 0361-25639201 +91-60009-05472 +91-60009-05472
vbpurvottarkshetra@gmail.com vidyabharatipurvottar.co.in

शुभकामना संदेश

हिंदी दिवस के पावन अवसर पर विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र द्वारा "ईशान्य विभा" नामक पत्रिका के विमोचन का समाचार अत्यंत हर्ष का विषय है। यह प्रयास न केवल हमारी मातृभाषा हिंदी के संवर्धन की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है, बल्कि पूर्वोत्तर क्षेत्र की सांस्कृतिक चेतना, अकादमिक प्रतिभा और बौद्धिक विमर्श को भी एक सशक्त मंच प्रदान करेगा।

हिंदी भाषा हमारी राष्ट्रीय एकता की धुरी है। यह विभिन्न भाषाई व सांस्कृतिक परिवेशों को जोड़ने वाली जीवन्त कड़ी के रूप में कार्य करती है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि ईशान्य विभा पत्रिका विद्वानों, शोधार्थियों एवं साहित्यकारों को अपने विचारों के आदान-प्रदान का अवसर देगी और हिंदी के वैश्विक स्वरूप को और भी सुदृढ़ बनाएगी।

इस अवसर पर मैं संपादकीय दल, सभी रचनाकारों तथा सहयोगी संस्थानों को हृदय से शुभ-कामनाएँ देता हूँ। आशा है कि यह पत्रिका ज्ञान, संस्कृति और भाषा के क्षेत्र में नए कीर्तिमान स्थापित करेगी।

हिंदी दिवस की हार्दिक बधाई एवं शुभकामनाएँ।

सादर,
गंगा प्रसाद परसाई
प्रो. गंगा प्रसाद परसाई
अध्यक्ष
विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र

Sangrakshak Dr. N.K. Chaudhury | President Prof. G.P. Prasain | Secretary Dr. Jagadindra Ray Choudhury | Org. Secretary Dr. Pawan Tiwari

पुरोवाक्

डॉ. पवन तिवारी
संगठन मंत्री
विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र

प्रिय पाठकगण,

विद्या भारती पूर्वोत्तर क्षेत्र की पत्रिका 'ईशान्य विभा' के इस अंक को आपके हाथों में सौंपते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है। इस पत्रिका के माध्यम से हम भारतीय संस्कृति, ज्ञान और मूल्यों को नई पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

इस अंक का मुख्य विषय पूर्वोत्तर भारत की समृद्ध लोकपरंपराएँ और प्रकृति के साथ उनके अटूट संबंध पर केंद्रित है। यह क्षेत्र अपनी प्राकृतिक सुंदरता के साथ-साथ अपनी विविध जनजातीय संस्कृतियों के लिए भी जाना जाता है, जहाँ का जीवन, पर्व-त्योहार और लोकगीत सब कुछ प्रकृति के साथ एक गहरे सामंजस्य को दर्शाते हैं। आज जब पूरी दुनिया पर्यावरणीय संकट का सामना कर रही है, तब हमें इन पारंपरिक ज्ञान प्रणालियों की ओर लौटना होगा। इन परंपराओं में ही वह सूत्र छिपा है जो हमें बताता है कि प्रकृति का संरक्षण कोई आधुनिक विज्ञान नहीं, बल्कि जीवन जीने का एक स्वाभाविक तरीका है।

इस पत्रिका में संकलित लेख और शोध कार्य इसी अनमोल ज्ञान को आपके समक्ष प्रस्तुत करने का एक विनम्र प्रयास है। हमें विश्वास है कि ये रचनाएँ न केवल आपको जानकारी प्रदान करेंगी, बल्कि आपको अपनी जड़ों से जुड़ने और प्रकृति के प्रति सम्मान की भावना को पुनः जाग्रत करने के लिए भी प्रेरित करेंगी।

हम इस अंक को सफल बनाने में योगदान देने वाले सभी विद्वानों, लेखकों और संपादकीय मंडल के सदस्यों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। हमें आशा है कि 'ईशान्य विभा' ज्ञान और प्रेरणा का एक माध्यम बनकर पाठकों के हृदय में अपना स्थान बनाएगी।

शुभकामनाओं सहित,

संपादकीय

प्रिय पाठकगण,

'ईशान्य विभा' के इस वार्षिक अंक में आपका हार्दिक स्वागत है। हमारे चारों ओर फैली प्रकृति और विशेष रूप से पूर्वोत्तर भारत की अद्भुत जैव-विविधता और जनजातीय संस्कृति, इस अंक का मुख्य केंद्र बिंदु है। आज जब पूरी दुनिया जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय असंतुलन जैसी गंभीर चुनौतियों का सामना कर रही है, ऐसे में हमें अपनी जड़ों की ओर लौटना होगा। पूर्वोत्तर भारत की जनजातीय परंपराएँ हमें यही सिखाती हैं। यहाँ के लोगों का जीवन, उनके पर्व-त्योहार, उनके लोकगीत और उनकी कहानियाँ, सब कुछ प्रकृति के साथ एक गहरे और अटूट संबंध को दर्शाते हैं। वे प्रकृति को सिर्फ एक संसाधन नहीं, बल्कि एक पूज्यनीय अस्तित्व मानते हैं। उनका जीवन-यापन प्रकृति से लेना नहीं, बल्कि उसके साथ तालमेल बिठाना है।

इस अंक में हमने इसी पारंपरिक ज्ञान और प्राकृतिक जीवनशैली को आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यहाँ प्रकाशित लेख जनजातीय संस्कृतियों की पूजा पद्धतियों, लोककथाओं और लोकगीतों में छिपी पर्यावरण चेतना को उजागर करते हैं। ये लेख हमें यह समझाते हैं कि प्रकृति का संरक्षण कोई आधुनिक अवधारणा नहीं है, बल्कि हमारे पूर्वजों के जीवन का एक स्वाभाविक हिस्सा रही है। हमारा मानना है कि यह पत्रिका सिर्फ ज्ञान का भंडार नहीं है, बल्कि यह हमें अपनी विरासत से पुनः जुड़ने और प्रकृति के प्रति सम्मान की भावना को फिर से जगाने का एक माध्यम है।

हमें विश्वास है कि इन लेखों के माध्यम से आप प्रकृति के साथ अपने संबंध को एक नए दृष्टिकोण से देख पाएंगे और समझेंगे कि सच्चा विकास प्रकृति के साथ सद्भाव से ही संभव है।

आशा है कि यह अंक आपको न केवल जानकारी देगा, बल्कि एक नई सोच और प्रेरणा भी प्रदान करेगा।

शुभकामनाएं।

रामचरित मानस में पर्यावरण चेतना

मानव सभ्यता के विकास के प्रारंभिक काल से आज तक जितने भी लोकनायक हुए है, राम इन सभी में महानायक है लोकदृष्टा तुलसीदास का मानना है कि सभी प्राणियों में साक्षात् राम आत्मवत् है वही जीवन के केन्द्र में है इसलिए सारा संसार उनकी रचनात्मक चेतना का प्रतिबिम्ब है।

सिया राम मय सब जानी।
करौ प्रणाम जोरि जुग जानी।।

गोस्वामी तुलसीदास का रचनाकाल भारतीय समाज व्यवस्था का ऐसा आदर्श काल था, जिससे समाज को सदैव नई चेतना और नई प्रेरणा मिलती है। इस काल की समृद्ध प्रकृति और सुखी समाज व्यवस्था हजारों वर्षो से जन सामान्य को प्रभावित और आकर्षित करती रहती है इसलिए रामराज्य हमारा सांस्कृतिक लक्ष्य रहा है। रामचरितमानस में भारतीय समाज के गौरवशाली अतीत की मधुर स्मृतियाँ संयोजी गयी है। देश की श्रेष्ठ पर्यावरणीय विरासत के प्रति समाज में जागरूकता पैदा करना भी मानसकार का लक्ष्य रहा है मानसकार ने यह बताने का प्रयास किया है कि रामायणकालीन भारत में समाज में पेड़-पौधों, नदी-नालों व जलाशयों के प्रति लोगो में जैव सत्ता का भाव था। यही कारण है कि प्रकृति के अवयवों जैसे नदी, पर्वतों, पेड़-पौधे, जीव-जंतुओं सभी का व्यापक वर्णन मानस में सर्वत्र मिलता है।

नदी पर्यावरण का प्रमुख घटक है। दुनिया की सभी प्राचीन सभ्यताओं का विकास प्राय: नदियों के तट पर हुआ था हमारे देश में कशी, मथुरा, प्रयाग, उज्जैन और अयोध्या जैसे आध्यात्मिक नगर नदियों के तटों पर स्थित हैं । गंगा हमारे देश में प्राचीनकाल से पूज्य रही है, गोस्वामीजी लिखते है गंगा का पवित्र जल पथ की थकान को दूर कर पथिक को सुख प्रदान करने वाला हैं।

गंगा सकल मुद मूला।
सब सुख करिनहरनि सब सूला।।

इसीलिए ईश्वर के स्वरूप श्रीरामचन्द्रजी स्वयं गंगा को प्रणाम करते हैं तथा अन्य से भी वैसा ही कराते हैं।

उतरे राम देवसरि देखी।
कीन्ह दंडवत हरषु विसैषी।।
लखन सचिव सिय किए प्रनामा।
सबहि सहित सुखु पायउ रामा।।

राष्ट्रीय शिक्षा
सा विद्या या विमुक्तये
https://rashtriyashiksha.com/
साभार: राष्ट्रीय शिक्षा

मानस में गंगा यमुना तथा संगम के चित्रण के अतिरिक्त सरयू नदी का विवरण भी है। सरयू का निर्मल जल आसपास के वायु मण्डल को भी शुद्ध करता है ।

बहइ सुहावन त्रिविध समीरा।
भइ सरजू अति निर्मल नीरा।।

इसके अतिरिक्त स्थान स्थान पर सई, गोदावरी, मंदाकिनी आदि नदियों का वर्णन रामचरितमानस में आया है। उस समय की सभी नदियां स्वच्छ एवं पवित्र जल से परिपूर्ण थी । यह सदानीरा नदिया बारह मास कल कल बहती थीं, जिसके किनारे रहने वाले मनुष्य, पशु-पक्षी सभी आनंदपूर्वक जीवन व्यतीत करते थें।

सरिता सब पुनीत जलु बहहिं।
खग मृग मधुप सुखी सब रहहिं।।

पर्वत प्रकृति के महत्वपूर्ण अवयव है। पर्वतराज, हिमालय भारतमाता के मुकुट के रूप में प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित है। हिमालय के अतिरिक्त चित्रकूट पर्वत का चित्रण रामचरितमानस में विस्तृत रूप से आया है। पर्वत पर हरियाली थी एवं वन्य जीव ऋषि मुनियों के स्वाभाविक मित्र के रूप में आश्रमों में निवास करते थें।

जहँ जहँ मुनिन्ह सुआश्रम कीन्हे।
उचित बास हि मधुर दीन्हें।।
चित्रकुट गिरि करहु निवासु।
तहँ तुम्हार सब भांति सुपासू।।
सैलु सुहावन कानन चारू।
करि केहरि मृग विहग बिहारू।।

मानस के अरण्य कांड में पम्पा सरोवर का वर्णन अत्यंत मनोहारी है।

प्रकृति के साथ छेड़छाड़ करने से अनेक विकृतियां उत्पन्न होती हैं। प्रकृति के सानिध्य में न रहने वाले जीव जंतुओं का अस्तित्व संकटग्रस्त हो जाता है। जब श्रीरामचन्द्र जी की प्रार्थना पर समुद्र ध्यान नहीं देता है, तो वे क्रोधित होकर धनुष बाण उठाते है जिससे समस्त जलचर व्यथित हो उठाते है –

संधोनेउ प्रभु बिसीव कराला।
उठी उदधि उर अंतर जवाला।।
मकर उरग झष गन अकुलाने।
जरत जंतु जलनिधि जब जाने।।

वास्तव में प्रकृति हमें स्वाभाविक रूप से अपने उपहार देती है। कृतज्ञ भाव से बिना छेड़छाड़ किये उन्हें ग्रहण करना चाहिए असीमित स्वार्थ से किया गया शोषण विकृति उत्पन्न करता है, जो अतंत: प्रलयकारी है। प्रकृति की इस प्रवृति को समुद्र के माध्यम से मानस में अभिव्यक्ति मिली है।

सागर निज मरजादा रहही।
डारहि रत्नहिं नर लहहीं।।

मानसकार ने दोहे व चौपाइयों के माध्यम से हमें पर्यावरण एवं प्रकृति के विविध आयामों से परिचित कराया है। मानस में इस काल के स्वाभाविक प्रकृति चित्रण ने मनोहारी हरी-भरी धरती और वन्य-जीवन के प्रति प्रेममूलक संबंधों एवं पर्यावरण के संरक्षण में समाज के अंतिम व्यक्ति तक को भागीदार बनाये जाने का आदर्श समाज के सामने उपस्थित किया है। इस प्रकार प्रकृति के संतुलन में संस्कृति की शाश्वतता का युग संदेश हमारे लिए इस काल की महत्वपूर्ण विरासत है। मानसकार तुलसी ने मानस में पृथ्वी से लेकर आकाश तक सृष्टि के पांचो तत्वों की विस्तृत चर्चा की है। भारतीय मनीषा की यह मान्यता रही है कि मनुष्य शरीर मिट्टी, अग्नि, जल, वायु, और आकाश इन्हीं पांच तत्वों से मिलकर बना है। इसका दूसरा आशय यह भी है कि प्रकृति निर्मल और पवित्र रहने पर प्राणीमात्र के लिए फलदायी और सुखदायी होती है।

छिती जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा।।

इस काल में पर्यावरण इतना संतुलित था कि कृषि, पशुपालन और अन्य कार्यो में कभी कोई बाधा नहीं आती थी। इस समय समाज में धन-धान्य की किसी भी प्रकार की कमी नही थी। एक स्थान पर वर्णन आता है –

विधुं मय पुरखनहि रवि तप जेतनेहि काज।
मांगत वारिद जल देत श्रीरामचन्द्र के राज।।

इस प्रकार सर्दी-गर्मी और बरसात का मौसम चक्र अपनी संतुलित गति से चलता था। उस समय ना बाढ का

संकट था, न ही सूखे का संकट होता था इस प्रकार प्रकृति के समन्वयकारी सहयोग में समाज की स्थिति कैसी थी इस पर तुलसी लिखते है –

दैहिक दैहिक भौतिक तापा।
राम राज नहीं काहुहि व्यापा।।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि समाज के अंतिम व्यक्ति तक को सुख, संतोष और आनंद उपलब्ध था अर्थात् सर्वत्र शांतिपूर्ण मंगलमय वातावरण था। इसके साथ ही राम, लक्ष्मण और सीता जी वन में भी आनदित और प्रशंसित थे। मानस में एक प्रसंग में कहा गया है कि – वन में खाने के लिए फल है, सोने के लिए धरती माँ का आँचल है और धूप से बचने के लिए छाया देने वाले वृक्ष है, ऐसे में खड़ाऊ पहनकर चलने की क्या जरुरत है? वहां धरती की हरी-हरी दूबे नंगे पावों को स्वत: ही सुखद लगती थी।

भरत–मिलन के समय आत्मीय क्षणों में सत्कार के लिए राम कहते है कि जाओ कंद मूल फूल ले आओ –

चाहिय कीन्ह भरत पहुनाई।
कंद मूल फल आनहू जाई।।

"अयोध्या नगरी से प्रारंभ हुई युवराज राम की जनचेतना की सांस्कृतिक यात्रा में प्रकृति का भरपूर योगदान रहा है। यह लोक जागरण यात्रा कई नदियों के किनारे विभिन्न भाषा-भाषी अनेक जातियों को जोड़ती हुई, अनेक पर्वतमालाओं और गंगा-यमुना के मैदानों से गुजरती हुई दण्डकारणय, पंचवटी, किष्किन्धा और रामेश्वरम् होती हुई श्रीलंका पहुँचती है इसमें लोक जीवन, लोक संस्कृति और प्रकृति के उपहारों का त्रिवेणी संगम प्रतीत होता है। इस संस्कृति यात्रा में राज सत्ता पर लोकजीवन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यहाँ प्रकृति के साथ पारिवारिक रिश्तों का लंबा सिलसिला चलता है। वनवास काल में पेड़, पहाड़, नदियां और वन्य प्राणी सभी सीता एवं राम के सहयोगी बनते है। ये सभी उस विराट परिवार के सदस्य है, जिसके मुखिया स्वयं राम है। इसलिए यहाँ राम एवं सीता का सख्य भाव केवल शबरी, गिद्ध, जटायु या वानरों तक ही सिमित नहीं है वह तो सरयू, गंगा और गोदावरी जैसी नदियों, जलाशयों और वृक्षों से लेकर व्यापक वन-सौन्दर्य तक फैला हुआ है।

वन्य जीवन से जुड़े अनेक प्रसंगों का मानस में सुंदर वर्णन है। राम जब वनवास में जा रहे थे उस समय का विवरण है कि राम के वनगमन मार्ग में अनेक पर्वत प्रदेश, घने जंगल, रम्य नदियाँ और उनके किनारों पर रमण करते हुए सारस और अन्य पक्षीगण, खिले–खिले कमल दल वाले जलाशय और उनके अपने जलचर है, इतना ही नहीं उनके पास ही झुंड के झुंड हिरण, मदमस्त गेंडे, भैंसे और हाथी सभी मौज में घूम रहे है, इन्हें ना तो सुरक्षा की चिंता है और ना ही कोई किसी से भयभीत है। इस प्रकार के नैसर्गिक परिदृश्य राम को जगह-जगह दिखाई देते है। वृक्षों एवं वन्य जीवों के प्रति राम एवं सीता का लगाव भी कम नहीं है। पशुओं से वो इस प्रकार का व्यवहार करते है मानो वे उनके परिवार के सदस्य हो। मानस में कहा गया है कि वनवास में सीताजी जंगल में हिरणों को नित्यप्रति हरी घास खिलाती थी।

इस प्रकार अनेक प्रसंग हैं, उनमे से कुछ का प्रतीकात्मक उल्लेख किया गया जो वर्तमान में भी प्रासंगिक हैं, देखा जाए तो इन प्रसंग और संदर्भो की चर्चा आज ज्यादा जरुरी हो गई है। प्रकृति प्रेमी राज को आपना आदर्श मानने वाले समाज की आज की स्थिति क्या है? वन, उपवन और उद्यानों को छोड़ दे तो आजकल तुलसी का पौधा भी घरों से गायब होता जा रहा है। प्राय: बड़े घरों के लान एवं गमलो में केक्टस ज्यादा दिखाई देते हैं। घर में भीतरी सजावट में भी ज्यादातर लोगों का प्रकृति प्रेम प्लास्टिक के फूल पत्तों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। आधिकतर घरों में कांच के गमलो में प्लास्टिक के फूल पौधे बैठक कक्ष की अलमारी या टी.वी. टेबल की शोभावृद्धि करते हैं। आज हम जितने सभ्य और सुसंस्कृत समाज में जी रहे है, उतने ही प्रकृति से दूर होते जा रहे हैं।

यहां यह स्मरण करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि हम प्रकृति से जुड़कर ही प्रकृति पुरुष राम से जुड़ पाएंगे। क्या हमारे प्रकृतिउन्मुख क्रियाकलापों की स्थिति और उसका स्तर हमारे लोकजीवन के आदर्श श्रीराम के रिश्ते को परिभाषित करने की कोई कसौटी हो सकती है? □□

जनजातीय जीवन और पर्यावरण संतुलन

डॉ. संजय यादव
सहायक प्राध्यापक,
विवेकानंद केंद्र कॉलेज ऑफ़ टीचर एजुकेशन,
निर्जुली, अरुणाचल प्रदेश
दूरभाष - 9863661175

जनजातीय जीवन प्रकृति के सानिध्य में जीवन जीने वाला समुदाय है। उनकी जीवनशैली, परंपराएँ और विश्वास प्रकृति के संरक्षण पर आधारित होती है। वे प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करते हुए भी उसे नष्ट नहीं करते, बल्कि उसका संतुलित उपयोग करते हैं। जनजातीय समुदाय आवश्यकतानुसार ही जंगलों से लकड़ी, फल, शहद, जड़ी-बूटियाँ आदि लेते हैं। वे अनावश्यक दोहन नहीं करते, जिससे संसाधनों की पुनः प्राप्ति संभव हो जाती है।

वन संसाधनों का उपयोग वे बड़ी मितव्ययता से करते हैं। वे सूखी या गिरी हुई लकड़ी को प्राथमिकता देते हैं। फल, कंद-मूल और जड़ी-बूटियों का उपयोग वे भोजन, दवाओं और व्यापार के लिए करते हैं, लेकिन वे केवल आवश्यकता भर ही इसका संग्रह करते हैं। शिकार, पारंपरिक तरीकों से, सीमित मात्रा में और केवल जीविका के लिए किया जाता है। पशुपालन सीमित पैमाने पर होता है, पशुओं को जंगलों में प्राकृतिक चारा खिलाया जाता है तथा वे नदियों, झीलों और झरनों से पीने और खेती के लिए पानी लेते हैं, लेकिन स्रोतों को गंदा या नष्ट नहीं करते साथ ही वे वर्षा जल संचयन और पारंपरिक जल प्रबंधन प्रणाली अपनाते हैं।

कृषि संसाधनों के अंतर्गत वे झूम खेती जैसी पारंपरिक पद्धति अपनाते हैं, जिसमें कुछ समय बाद भूमि को विश्राम दिया जाता है। रासायनिक खाद के बजाय गोबर, पत्तियों और राख जैसे जैविक पदार्थों का उपयोग करते हैं। मिट्टी, पत्थर और खनिजों का सीमित उपयोग घर, बर्तन या औजार बनाने में किया जाता है। वे अंधाधुंध खनन से दूर रहते हैं, जिससे प्राकृतिक संतुलन बना रहता है। पेड़, नदियाँ, पहाड़ और जानवरों को वे देवी-देवताओं की तरह पूजते हैं। यह धार्मिक आस्था उन्हें इन संसाधनों की रक्षा करने की प्रेरणा देती है।

पारंपरिक ज्ञान और संतुलन

वे पीढ़ी दर पीढ़ी पारंपरिक ज्ञान का हस्तांतरण करते हैं, जैसे – कौन सा पौधा औषधीय है, कौन-से जानवर लुप्तप्राय हैं आदि। उनका उपयोग संतुलित होता है न तो बहुत अधिक, न ही बहुत कम। जनजातीय लोग प्रकृति को उपभोग की नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व की चीज़ मानते हैं। वे प्राकृतिक संसाधनों का बुद्धिमानी से उपयोग करते हैं, जिससे संसाधनों का क्षरण नहीं होता और पर्यावरणीय संतुलन बना रहता है। उनका जीवन दर्शन आज की दुनिया को सतत् विकास की दिशा दिखा सकता है।

कई जनजातीय समाज पेड़ों, नदियों, पहाड़ों और जानवरों को देवी-देवताओं के रूप में पूजते हैं। इससे उनके अंदर पर्यावरण के प्रति आदर और संरक्षण की भावना पैदा होती है। आदिवासी समाज का जीवन प्रकृति के साथ गहराई से जुड़ा हुआ होता है। वे जंगल, पहाड़, नदियाँ, पेड़-पौधे और

पशु-पक्षियों को जीवनदाता मानते हैं और उनकी पूजा करते हैं। पूजा का स्वरूप अलग-अलग जनजातियों में भिन्न-भिन्न होता है, लेकिन इसके पीछे मूल भावना प्रकृति के प्रति आभार और संरक्षण की होती है।

विभिन्न आदिवासी समुदाय जंगल के एक हिस्से को "देवस्थान" मानकर उसमें पेड़ काटना या शिकार करना निषिद्ध मानते हैं । विशेष पेड़ों की पूजा- साल, पीपल, बड़, नीम या महुआ जैसे पेड़ों को देवी-देवता का रूप मानकर उनकी पूजा की जाती है। महुआ के फूल और फल तो आदिवासी जीवन व त्योहारों में विशेष स्थान रखते हैं।

"सरहुल" (झारखंड, छत्तीसगढ़) जैसे त्योहारों में पेड़ों और जंगलों की पूजा कर उनसे अच्छी फसल और सुरक्षा की कामना की जाती है। कुछ आदिवासी परंपराओं में पशु की बलि चढ़ाकर देवताओं को प्रसन्न किया जाता है, तो कहीं केवल पशु को सजाकर, उसकी पूजा कर उसे मुक्त कर दिया जाता है। आदिवासी समाज में इन पशुओं की पूजा का विशेष महत्व है। इन्हें शक्ति, उर्वरता और रक्षा का प्रतीक माना जाता है। वे मानते हैं कि जंगल और पशु उनके जीवनदाता हैं। भोजन, औषधि, ईंधन, आश्रय सब कुछ जंगल से ही मिलता है। पूजा के ज़रिए वे प्रकृति के साथ सहअस्तित्व और संतुलन बनाए रखते हैं। यह पूजा केवल धार्मिक क्रिया न होकर पर्यावरण संरक्षण की परंपरा भी है।

स्थानीय और पारंपरिक ज्ञान

जनजातीय लोगों के पास हजारों वर्षों से चला आ रहा पारंपरिक ज्ञान है। जैसे किस पेड़ की कौन-सी शाखा तोड़नी चाहिए ताकि पेड़ को नुकसान न हो, कौन-सी औषधि कहाँ मिलती है या कौन-सा मौसम किस खेती के लिए अनुकूल है। जनजातीय आदिवासी समाज का जीवन प्रकृति के साथ गहराई से जुड़ा हुआ होता है। इसलिए उनका स्थानीय और पारम्परिक ज्ञान मुख्य रूप से जंगल, खेती, पशुपालन और सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ है। वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी इस ज्ञान को अनुभव और परंपरा से आगे बढ़ाते हैं।

जनजातीय लोग मौसम, मिट्टी और वर्षा के आधार पर तय करते हैं कि कौन-सी फसल कहाँ बोनी है। वे झूम खेती और मिश्रित खेती से जमीन को उपजाऊ बनाए रखते हैं। साथ ही वे बीज संरक्षण की पारंपरिक विधियाँ अपनाते हैं तथा जंगल से खाद्य सामग्री (कंद-मूल, फल, शहद, महुआ, साल के पत्ते आदि) जुटाते हैं। उन्हें चिकित्सा और स्वास्थ्य संबंधी औषधीय पौधों का ज्ञान होता है। जैसे- नीम, तुलसी, हरड़, बहेरा, गिलोय, हल्दी से इलाज में वे वैद्य संबंधी पारंपरिक चिकित्सा में उत्कृष्ट होते हैं। चोट, बुखार, सर्पदंश आदि के लिए वे जड़ी-बूटियों से उपचार करते हैं।

टोटेमिक विश्वास के कारण जनजातीय लोग विशेष पशु-पक्षियों और पेड़ों का संरक्षण करते हैं। वर्षा, नदी और पहाड़ को देवी-देवता मानकर उनकी पूजा करते हैं, जिससे पर्यावरण संतुलित रहता है। वे पारंपरिक तरीके से पशुओं को पालते हैं और उनकी देखभाल करते हैं। साथ ही शिकार करते समय नियम बनाते हैं कि जैसे प्रजनन काल में शिकार नहीं करना है। वे स्थानीय सामग्री जैसे बांस, लकड़ी, मिट्टी, पत्ते आदि से घर बनाते हैं एवं हथकरघा, टोकरी, मृदभांड (मिट्टी के बर्तन) और आभूषण बनाते हैं।

पारंपरिक त्योहारों और नृत्य-गीतों में उनके कृषि एवं ऋतु-परिवर्तन संबंधी जीवन के अनुभव झलकते हैं। पंचायती परंपरा और जनजातीय सभा के माध्यम से वे सामूहिक निर्णय लेते हैं। जनजातीय लोग स्थानीय और पारंपरिक ज्ञान का उपयोग जीविका, स्वास्थ्य, पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक संगठन और संस्कृति में करते हैं। जनजातीय समुदाय अधिकांश वस्तुओं का पुन: उपयोग करता है। जैसे लकड़ी, पत्थर, मिट्टी और पत्तों से बनी वस्तुएँ जो कि पर्यावरण के अनुकूल होती हैं और आसानी से भी नष्ट हो जाती हैं। जनजातीय लोग अपने जीवन में पुनर्चक्रण और पुन: उपयोग को प्राकृतिक और आवश्यक जीवनशैली के रूप में अपनाते हैं। उनका जीवन अधिकतर प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर होता है। इसलिए वे वस्तुओं और सामग्री को नष्ट नहीं करते।

प्रकृति से प्राप्त सामग्री का पुनः उपयोग

वे बांस, लकड़ी और पत्तियों द्वारा घर बनाने, बर्तन या फर्नीचर बनाने में इस्तेमाल के पश्चात् बची लकड़ी या बांस को दूसरी चीज़ों में बदलने में करते हैं। वे पत्ते और घास को छप्पर या बिछौने बनाने में पुनः इस्तेमाल करते हैं। साथ ही पुराने कपड़ों को वे दस्तकारी, थैलों या चटाइयों में बदलते हैं एवं परिधान के टुकड़ों को सजावट या घरेलू उपयोग में लाते हैं। मिट्टी, लकड़ी या धातु के पुराने बर्तनों को नया रूप देकर वे उपयोग में लाते हैं। टूटे बर्तनों को छोटे-छोटे कार्यों में, जैसे पानी रखने या बीज रखने में उपयोग करते हैं।

सब्ज़ियों और फलों के छिलकों को पशु चारा या खाद बनाने में प्रयोग किया जाता है। जंगली पौधों और फसल

अवशेषों को ये इन्हें खेत में खाद या बीज के लिए सुरक्षित रखते हैं। पशु सामग्री, पशुओं की हड्डियाँ, खाल आदि के हिस्से उपयोगी वस्त्र, आभूषण या औषधि बनाने में आते हैं। जनजातीय लोग पुनर्चक्रण और पुन: उपयोग इसलिए करते हैं क्योंकि उनके पास संसाधन सीमित होते हैं। वे प्रकृति और पर्यावरण के प्रति जागरूक रहते हैं। यह उनकी जीवनशैली और संस्कृति का हिस्सा है।

जनजातीय लोग रासायनिक खादों और कीटनाशकों की बजाय पारंपरिक जैविक खेती करते हैं, जिससे मिट्टी की उर्वरता बनी रहती है और जैव विविधता संरक्षित होती है। उनके पास प्राकृतिक खेती और पर्यावरण संरक्षण के बहुत से पारंपरिक तरीके हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आ रहे हैं। प्राकृतिक खेती में वे रासायनिक उर्वरक और कीटनाशक का उपयोग नहीं करते। वे खेतों में केवल गोबर, वनस्पति खाद और जैविक पदार्थों का इस्तेमाल करते हैं। वे झूम खेती अपनाते हैं, जिसमें ज़मीन को प्राकृतिक रूप से उपजाऊ बनाया जाता है साथ ही मिश्रित खेती भी करते हैं, जैसे धान, बाजरा, दाल और सब्जियाँ एक साथ बोते हैं। इससे मिट्टी की उर्वरता बनी रहती है और कीटों का प्राकृतिक संतुलन भी बना रहता है। वे भिन्न-भिन्न फसल के बीज भी सुरक्षित रखते हैं तथा उसे अगली फसल में उपयोग करते हैं।

जनजातीय जीवन के अंतर्गत पवित्र जंगल के कुछ हिस्सों को देवी-देवताओं का स्थान मानकर संरक्षित रखा जाता है। वहाँ पेड़-पौधे और वन्य जीव सुरक्षित रहते हैं। टोटेमिक विश्वास कुछ जानवरों या पक्षियों को कुल का प्रतीक मानते हैं। उनका शिकार नहीं करते और उनकी रक्षा करते हैं। वनस्पतियों के अंतर्गत औषधीय पौधे, फल-फूल और महुआ के पेड़ संरक्षित रहते हैं। प्राकृतिक जल स्रोतों की रक्षा नदियाँ, झरने और तालाब केवल पीने और सिंचाई के लिए ही नहीं, बल्कि जल जीवन का संतुलन बनाए रखने के लिए भी संरक्षित किए जाते हैं।

जंगल से सतत् उपयोग के अंतर्गत पेड़ काटने या फसल लेने के नियम बनाए जाते हैं, जैसे प्रजनन काल में पेड़ या जानवरों का उपयोग न करना। सामूहिक जिम्मेदारी, गाँव या जंगल के सभी लोग मिलकर प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा करते हैं।

त्योहार और रीति-रिवाज

कृषि, जंगल और पशु-पक्षियों के लिए पूजा और उत्सव आयोजित किए जाते हैं, जिससे पर्यावरण के प्रति सम्मान पैदा होता है। उनकी परंपराएँ पर्यावरण संरक्षण के रूप में उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

जनजातीय समाज में संसाधनों का निजी स्वामित्व कम होता है। जल, जंगल, जमीन आदि का उपयोग सामूहिक रूप से होता है, जिससे संतुलन बना रहता है और अति-उपयोग से बचाव होता है। आदिवासी समाज में सामुदायिक जीवन और साझा संसाधनों का बहुत महत्व है। उनका जीवन व्यक्तिगत संपत्ति पर कम और साझा जिम्मेदारी और सहयोग पर अधिक आधारित होता है।

गाँव या जनजाति में पंचायत/ सभा के माध्यम से सभी महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाते हैं। खेती, घर बनाना, त्योहार तथा विवाह में सभी लोग मिलकर मदद करते हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रम, नृत्य, गीत और खेल सामूहिक रूप से मनाए जाते हैं। वरिष्ठ नागरिक, शिक्षक या पारंपरिक वैद्य बच्चों और युवाओं को कृषि, हस्तशिल्प और औषधीय ज्ञान सिखाते हैं।

जंगल का उपयोग सभी लोग मिलकर करते हैं, लेकिन साथ ही नियमों का पालन भी करते हैं। जैसे इन्हें पवित्र उपवन मानना एवं इनके अवशेष न काटना। नदी, तालाब, कुएँ आदि सभी के लिए खुले रहते हैं और सामूहिक रूप से इनका रख-रखाव किया जाता है। पशुओं के लिए चराई की जगह साझा होती है। कुछ पौधों को सभी के लिए संरक्षित रखा जाता है, ताकि किसी ज़रुतमंद की आवश्यकता पूरी हो सके।

अंततः यह कहा जा सकता है कि जनजातीय जीवन के प्रमुख सिद्धांत हैं- साझा भलाई एवं व्यक्तिगत स्वार्थ से अधिक समुदाय की भलाई की महत्ता पर ज़ोर। साथ ही प्राकृतिक संसाधनों और सामाजिक जीवन को संतुलित बनाए रखने के लिए नियम बनाए जाते हैं। यहाँ सह-अस्तित्व की भावना को भी देखा जा सकता है जहाँ मानव जीव और प्रकृति के बीच संतुलन बनाए रखा जाता है। आदिवासी जन अपने जीवन को सामूहिकता, सहयोग और साझा संसाधनों के संरक्षण पर आधारित रखते हैं। इससे उनका समाज सुदृढ़, पर्यावरण के प्रति जिम्मेदार और आपसी सहयोग पर आधारित रहता है, जनजातीय लोग पर्यावरण को "माँ" की तरह मानते हैं, जिससे जीवन मिलता है और जिसकी रक्षा करना उनका कर्तव्य है। उनकी जीवनशैली हमें सिखाती है कि विकास और संरक्षण साथ-साथ चल सकते हैं। □□

त्रिपुरा की जमातिया जनजाति की पूजा-पद्धति

डॉ. मिलन रानी जमातिया
हिन्दी विभागाध्यक्ष,
त्रिपुरा विश्वविद्यालय

अपनी भौगोलिक स्थिति एवं सांस्कृतिक विरासत के कारण त्रिपुरा राज्य की अपनी खास पहचान है। यह प्रदेश उत्तर में असम, पश्चिम में बंगलादेश के कुमिल्ला और नोवाखाली जिले, दक्षिण में चट्टगाँव और नोवाखाली का आधा भाग एवं मिजोरम की पहाड़ियों से घिरा हुआ है। यहाँ कुल 19 जनजातियाँ पाई जाती है, यथा- त्रिपुरी[1], जमातिया, रियांग, मुरासिंह, रुपिनी, कलई, उचई, गारो, चाकमा, खासी, भूटिया एवं नोवातिया आदि। इन जनजातियों में अपनी विशिष्ट समाज-व्यवस्था, रीति-रिवाज एवं धार्मिक मान्यताओं के कारण 'जमातिया जनजाति' की अपनी विशिष्ट पहचान है। जनसंख्या की दृष्टि से इसका त्रिपुरी और रियांग के बाद तीसरा स्थान है। यह जनजाति मुख्य रूप से त्रिपुरा के उदयपुर, अमरपुर, सोनामुरा, बिलोनिया, तेलियामुरा, साब्रूम, खुवाई, जम्पुईजला, सदर क्षेत्रों में निवास करती है। यह जनजाति आज भी अपने धर्म, परम्परा, नियम और कानून के प्रति बहुत सजग है। इनकी बोली को 'जमातिया कॉक' कहा जाता है जो कि कॉकबरक भाषा के अंतर्गत आती है। यह 'तिब्बती-चीनी' भाषा-परिवार से विकसित बोड़ो उपशाखा की भाषा है।

'जमातिया' शब्द की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं। 'श्री राजमाला'[2] के लेखक कालीप्रसन्न सेन के अनुसार 'राजतंत्र काल में त्रिपुरा राज्य के पहाड़ी क्षेत्र में निवास करने वाली जनजातियों में जमातिया जनजाति वीर योद्धा के रूप में प्रसिद्ध थी।'[3] सोमेंद्र चंद्र देबबर्मा ने अपनी पुस्तक 'द सेंसेस बिबरणी' में बताया है कि 'जमात' शब्द से 'जमातिया' की उत्पत्ति हुई है। 'जमात' दल या लोक समूह का बोधक है। पूर्व में ये जनजाति राजाओं के सैनिक विभाग में कार्य करती थी, उनके द्वारा जिस सैनिक संगठन का निर्माण हुआ, उसे ही जमात कहा गया। कालांतर में यह सैनिक वर्ग ही 'जमातिया' कहलाया।[4] कुछ विद्वान 'जमातिया' शब्द की उत्पत्ति को 'गॉरिया'[5] पूजा से भी जोड़कर देखते हैं। श्री ललित मोहन जमातिया 'जमातिया' को 'जमा' और 'तोइया' दो शब्दों के मेल से बना मानते हैं। जिसका अर्थ है- जमा यानि टैक्स और तोइया यानि जो किसी भी प्रकार के बोझ को वहन न करता हो।[6]

श्री बीरेंद्र किशोर जमातिया के अनुसार जमातिया 'जमासिया' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है- जो टैक्स या बोझ के विषय से अवगत नहीं है।[7]

गौरतलब है कि इन मान्यताओं की कोई ऐतिहासिक प्रामाणिकता

नहीं मिलती है, क्योंकि राजतंत्र काल में जमातिया जनजाति को भी अन्य जनजातियों के समान टैक्स देना पड़ता था। उदाहरण के लिए 1872 की ब्रिटिश प्रशानिक रिपोर्ट में कहा गया है कि जमातिया एवं त्रिपुरी जनजाति (देबबर्मा) के परिवार को पाँच से सात रुपए एवं अन्य जनजातियों जैसे रियांग, नोवातिया आदि को आठ से बारह रुपये राजाओं को प्रत्येक वर्ष टैक्स के रूप में देना पड़ता था। जमातिया जनजाति के सामाजिक एवं सांस्कृतिक संगठन या संरचना पर ध्यान दें तो 'जमात' से 'जमातिया' शब्द की उत्पत्ति संभव मानी जा सकती है। प्राचीन काल से ही इस जनजाति के लोग एक ही सामाजिक संगठन के अंतर्गत रहकर मुख्य रूप से एक ही प्राकृतिक देवता 'गॉरिया' की सामूहिक रूप से पूजा करते आ रहे हैं। समाज या समुदाय से बाहर जाने या रहने की कल्पना ये प्राय: नहीं करते। किसी कारण से अगर समाज से दूर रहना पड़े तब भी यह जनजाति अपने समाज के नियमों का पालन करती है, इन्हीं कारणों से इन्हें 'जमातिया' कहा गया होगा, जिन्होंने राजतंत्र काल में राजा के सैन्य विभाग में योग देकर अपनी ईमानदारी एवं वीरता सिद्ध की।

असल में, अन्य बहुत सारे जनजाति समाजों की तरह जमातिया जनजाति की भी अपनी विशिष्ट जीवन-शैली, परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज हैं। जमातिया जनजाति की समाज-व्यवस्था को संचालित करने के लिए एक जाति-पंचायत होती है, इसे 'हदा' कहते हैं। जमातिया जनजाति में जन्म से लेकर मृत्यु तक के सारे रिवाज, परम्पराएँ और नियम 'हदा' के अनुसार ही पालन किए जाते हैं। जमातिया-हदा का संगठन निम्न प्रकार होता है-

हदा अक्रा[8]

समाज-व्यवस्था	पूजापाठ-व्यवस्था
मयाल पांचाई	खेरफाङ
लुकू चकदिरी	अचाई
	दरिया-
	मोताई बालनाई
	बगला-
	बगला महन्त
	बगला राजा
	बगला चकदिरी

इस हदा के दो प्रमुख होते हैं, जो कम से कम तीन और अधिक से अधिक पाँच साल के लिए बाकायदा एक लोकतांत्रिक-प्रक्रिया द्वारा चुने जाते हैं, उन्हें अकरा/अक्रा कहते हैं। इनमें एक अकरा खामा अंचल के लिए चुना जाता है, जिसके अंतर्गत उदयपुर का पश्चिमांचल, सोनामुड़ा, जम्पुई जला एवं बिलोनिया आदि के क्षेत्र आते हैं और दूसरा अकरा साका अंचल के लिए चुना जाता है, जिसके अंतर्गत उदयपुर का पूर्वांचल, अमरपुर एवं कल्याणपुर/तेलियामुड़ा का क्षेत्र आते हैं। जमातिया जनजाति में दोनों अकरा ही सर्वेसर्वा होते हैं। समाज में किसी भी प्रकार का वाद-विवाद उत्पन्न हो, किसी भी तरह की उलझन हो, अकराओं का निर्णय ही अंतिम होता है। जमातिया समाज में किसी भी प्रकार के सामाजिक अपराध के लिए हदा द्वारा कठोर दंड का (अर्थ-दंड, छड़ी-दंड, समाज से बहिष्कार आदि) प्रावधान है। अकरा के अंतर्गत दो व्यवस्थाएँ आती हैं- समाज-व्यवस्था और पूजापाठ-व्यवस्था। समाज व्यवस्था में अकरा के नीचे पांचाई और चकदिरी आते हैं तो पूजापाठ व्यवस्था में अकरा के नीचे खेरफ़ांग, अचाई, दरिया, मोताई बालनाई, बगला आते हैं। बगला के भी अंतर्गत बगला महन्त, बगला राजा और बगला चकदिरी आते हैं।

जमातिया जनजाति में ग्राम-समाज को 'लुकू' कहा जाता है। प्रत्येक लुकू के लिए एक व्यक्ति चुना जाता है, जिसे 'लुकू चकदिरि' कहा जाता है, जो ग्राम में व्यवस्था बनाए रखता है। वर्तमान में इस जनजाति के 329 (तीन सौ उन्तीस) लुकू हैं। पाँच से पंद्रह या उससे अधिक गाँवों को मिलाकर एक और संगठन बनाया जाता है, जिसे 'मयाल' कहा जाता है, प्रत्येक मयाल के लिए भी दो व्यक्तियों का चयन किया जाता है, जिसे 'मयाल पांचाई' कहा जाता है, जिन्हें मयाल को सुचारु रूप से चलाने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है। वर्तमान में जमातिया हदा के अंतर्गत 18 (अट्ठारह) मयाल हैं। पूर्व में विवाह-विच्छेद, नारी समस्याएँ एवं छड़ी दंड से संबंधित निर्णय केवल हदा अकरा ही लेते थे, किन्तु आज-कल विवाह-विच्छेद एवं नारी समस्याओं से संबंधित निर्णय

लुकू चकदिरी एवं मयाल पांचाई भी लेते हैं, लेकिन छड़ी दंड की सजा केवल हदा अकरा ही सुना सकते हैं। हदा अकरा और मयाल पांचाई तीन से पाँच साल के लिए चुने जाते हैं। विशेष परिस्थितियों में यह अवधि बढ़ाई भी जा सकती है। अवधि समाप्त होने पर एक ही व्यक्ति का चयन प्राय: दुबारा नहीं किया जाता है। लुकू चकदिरी भी तीन से पाँच साल के लिए चुना जाता है। इनकी अवधि नहीं बढ़ाई जाती है। हदा अकरा, मयाल पांचाई और लुकू चकदिरी सफ़ल वैवाहिक जीवन वाले दंपत्ति ही चुने जाते हैं, जिनका विवाह चौदह देवता को साक्षी बनाकर हुआ हो। इन पदों के लिए ऐसे व्यक्ति का चयन नहीं किया जाता है, जिन्होंने भागकर या माता-पिता के विरुद्ध जाकर शादी की हो। यह जनजाति आज भी अपने धर्म, परम्परा, नियम और सामाजिक-कानूनों के प्रति बहुत सजग है।

पूजापाठ-व्यवस्था के आधार पर इस जनजाति के हदा-व्यवस्थापकों के निम्नलिखित प्रकार हैं-

(क) खेरफांग- जिनके घर में बाबा गॉरिया की स्थापना की जाती है। उसे जमातिया समाज में 'खेरफांग' कहा जाता है। इनका कार्य नियमानुसार देवता की सेवा करना है। इस समाज में खेरफांग दो होते हैं, एक 'बिया कोरोई गॉरिया मोताई'[9] के लिए दूसरा बिया गोनांग गॉरिया मोताई'[10] के।

(ख) अचाई (पुजारी)- अचाई दुङदुङखि के वंशज ही बाबा गॉरिया के अचाई रूप में चुने जाते हैं। इनका काम विधिनुसार बाबा की पूजा करना है। गॉरिया अचाई दो चुने जाते हैं, एक 'बिया कोरोई गॉरिया मोताई' के दूसरा बिया गोनांग गॉरिया मोताई' के अचाई। इनके बिना गॉरिया देवता की पूजा असंभव प्राय है, इसलिए समाज में इन्हें विशेष महत्व प्राप्त हैं। ये लोग विशुद्ध रूप से जमातिया कहलाते हैं और पवित्रता का विशेष ध्यान रखते हैं। जहाँ शुद्धता एवं पवित्रता का अभाव है, वहाँ वे उठना-बैठना, खाना-पीना आदि नहीं करते हैं, यहाँ तक कि वे जल तक ग्रहण नहीं करते हैं।

(ग) दरिया- बाबा गॉरिया पूजा के दौरान ढोल बजाने वालों को 'दरिया' कहा जाता है। पूजा का आरंभ और अंत दोनों 'दरिया' द्वारा ढोल बजाकर किया जाता है। बीच में कोई भी व्यक्ति बजा सकता है। यह भी दो होते हैं, एक 'बिया कोरोई गॉरिया मोताई' के दूसरा बिया गोनांग गॉरिया मोताई' के।

(घ) मोताई बालनाई- बाबा गॉरिया की प्राण प्रतिष्ठा के बाद उन्हें सबसे पहले पकड़ने वाले एवं उनकी ग्राम-परिक्रमा के समय बाबा को कंधे पर उठाकर चलने वाले अथवा उठाने वाले मोताई बालनाई कहलाते हैं। यह भी दो होते हैं, एक 'बिया कोरोई गॉरिया मोताई' के दूसरा बिया गोनांग गॉरिया मोताई' के मोताई बालनाई।

(ङ) बगला/ बाबा के विशेष भक्तजन- बगला को इस समाज में विशेष सम्मान प्राप्त है। इन्हें बाबा गॉरिया के पूजा के दिनों में बाबा की सखी, सखा, भक्त, सेना आदि कई नामों से संबोधित किया जाता है। यह स्थाई और अस्थाई दोनों तरह के होते हैं। अस्थाई बगला उन लोगों को कहा जा सकता है, जो अपने दु:ख, कष्ट आदि को दूर करने के लिए बाबा के शरण में आते हैं और मुराद पूरी होने के बाद सांसारिक जीवन में लौट जाते हैं। एक तरह से यह बाबा गॉरिया के स्वयं सेवक होते हैं। सात दिनों तक की जाने वाली बाबा गॉरिया की पूजा को सुचारू रूप से चलाने के लिए हदा द्वारा बगलाओं के लिए एक अस्थाई समिति बनायी जाती है। जिसमें बगला महंत, बगला राजा और बगला चकदिरी की अहम भूमिका होती है।

बगला महन्त: इसकी नियुक्ति बगलाओं में से की जाती है। पूर्व में इसका चयन बगलाओं द्वारा किया जाता था, वर्तमान में हदा इसका चयन करता है। जमातिया-जनजाति में पारम्परिक रूप से शुद्ध रक्त के माने जाने वाले बगला ही महन्त चुने जा सकते हैं। महंत की जिम्मेदारी बाबा गॉरिया की विधिनुसार सेवा करना और बुइसू से लेकर सेना तक यानी सात दिन की पूजा को सुचारू रूप से चलाना है।

बगला राजा: इनकी नियुक्ति भी हदा द्वारा बगलाओं में से वरिष्ठता के आधार पर की जाती है। इनकी जिम्मेदारी एक अप्रैल से इक्कीस अप्रैल तक बगला-सुरक्षाकर्मियों द्वारा गॉरिया बाबा की निगरानी करवाना है।

बगला चौकदिरी: इसकी नियुक्ति बगलाओं में से की जाती है। बगला चौकदिरी बगलाओं को नियंत्रित और निर्देशित करते हैं तथा उनकी सुरक्षा का ध्यान रखता है।

तो ये था जमातिया हदा का संगठन, जो जमातिया-जनजाति की समाज व्यवस्था और पूजा-पाठ व्यवस्था का कर्ता-धर्ता है। आइए, अब हम जमातिया जनजाति की जीवन-शैली एवं उनकी पूजा-पद्धति को समझते हैं-

जमातिया समुदाय द्वारा साल भर में की जाने वाली पूजाओं में अनेक ऐसी चीजें मौजूद हैं, जो भारत की प्राचीन और वर्तमान पारंपरिक पूजा-पद्धतियों से मेल खाती हैं। प्रस्तुत शोध का उद्देश्य इस समाज द्वारा की जाने वाली सभी मुख्य पूजाओं का सामाजिक-सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को बताना है। यह समाज मुख्य रूप से यथा-लांप्रा, मोई तांमानि, बाबा गॉरिया, केर पूजा, बलङ सुवामा, माय खुलूंमा, थुनायरग-बनेरग, नाक्रि, हायचुकमा, हाङग्राई, हजाईगिरी आदि की पूजा करता है।

1. लांप्रा: जमातिया समुदाय में लांप्रा पूजा का महत्वपूर्ण स्थान है। यह दो प्रकार के हैं- कोथार लांप्रा[11] और कुसूं लांप्रा[12] अर्थात जन्म से लेकर मृत्यु और मृत्य के बाद मृतक परिवार की शुद्धिकरण हेतु भी यही पूजा की जाती है। समाज में प्रचलित लांप्रा पूजा को हम निम्न प्रकार से समझ सकते हैं-

(क) महिला के गर्भ धारण करते ही माँ और शिशु के स्वास्थ्य एवं उनकी मंगल कामना करते हुए सबसे पहले लांप्रा पूजा की जाती है। शिशु जन्म के बाद माँ के स्वस्थ एवं शुद्ध होते ही दोनों के स्वास्थ्य एवं सुरक्षा की कामना करते हुए और शिशु को सूर्य देवता का दर्शन कराने के लिए लांप्रा पूजा की जाती है।

(ख) इस समुदाय में लांप्रा पूजा के बाद ही शादी-विवाह की प्रस्तुति की जाती है। यहाँ तक कि लांप्रा पूजा के बाद ही वर-वधू की खोज शुरू की जाती है। वर-वधू चयन होने पर विवाह की तैयारी भी लांप्रा पूजा संपन्न करके ही की जाती है। शुभ विवाह के दिन लांप्रा पूजा के बाद ही वर-वधू फेरे लेते हैं और विवाह के बाद लांप्रा पूजा संपन्न होने पर ही वधू हरसिनि (पग फेरे) के लिए जाती है।

(ग) परिवार में किसी की मृत्यु होने पर बेटियाँ तीन दिन बाद और बेटे तेरहवें दिन में लांप्रा पूजा करते हैं। श्राद्ध के बाद घर की शुद्धिकरण के लिए, मृतक की अस्थि विसर्जन के पूर्व और पिंडदान के लिए तीर्थयात्रा पर जाने से पूर्व यह पूजा की जाती है।

(घ) बाबा गॉरिया की पूजा में शामिल होने से पहले 'बुइसू' के दिन और सात दिनों तक पूजा में शामिल होकर घर लौटने के बाद, इसके अतिरिक्त किसी भी सामुदायिक बड़ी पूजा में भाग लेने से पहले लांप्रा पूजा अनिवार्य माना जाता है।

(ङ) नया घर बनाने से पहले भूमि पूजा, घर निर्माण के बाद गृह-प्रवेश के दिन, राज्य से बाहर यात्रा पर जाने से पहले यानी लम्बी यात्रा करने से पहले, तीर्थ यात्रा से पहले, शिकार पर जाने से पहले लांप्रा पूजा अनिवार्य माना जाता है। इसके अलावा यदि कोई परिवार जरूरी समझते हैं तो महीने में एक बार पारिवारिक सुरक्षा एवं पवित्रता बनाए रखने के लिए यह पूजा की जाती है।

गाँव के अचाई द्वारा यह पूजा संपन्न की जाती है। मुख्य रूप से छ: देवी-देवताओं, यथा-आकाथा, बिकाथा, तोयबुकमा, साङग्रङ, सुकून्द्राई एवं मुकून्द्राई को स्मरण कर यह पूजा की जाती है। पूजा सामग्री है- केले के पत्ते, केले, चावल, चीनी, बताशे और कुछ फूल आदि।

2. मोई तांमानि[13]: 'मोई तांमानि' जमातिया समुदाय की मुख्य धार्मिक अनुष्ठानों में से एक है। यह पूजा साल में एक बार गॉरिया पूजा से पहले चैत्र महीने में की जाती है। यह पूजा मा-बारी[14] एवं शिवबाड़ी की पूजा कर आरंभ किया जाता है। माँ त्रिपुरेश्वरी एवं महादेव की पूजा के बाद तीन नदियों यथा-तोयमा (गोमती नदी, गोमती जिला), बुरिमा तोयमा (बिजय नदी, बिशालगड़ जिला) एवं कसंमा (खुवाई नदी, धलाई जिला) की पूजा की जाती है। सबसे पहले विश्व कल्याण एवं मानवता की रक्षा, सुख-शांति, समृद्धि एवं उनकी मंगल कामना करते हुए 'हदा मोई तांमानि', इसके बाद मयाल पांचाई द्वारा उनके अंतर्गत आने वाले गाँव वासियों की मंगल कामना करते हुए 'मयाल मोई तांमानि' अनुष्ठान पूरा किया जाता है। सभी अनुष्ठान हदा अकराओं की निगरानी में संचालित किए जाते हैं। यह अनुष्ठान गाँव के स्तर पर लुकू चकदिरी द्वारा गाँव वालों की सुख-समृद्धि, शांति, मंगल कामना करते हुए किया जाता है। पारिवारिक स्तर पर भी यह पूजा की जाती है। जिसे नुखूङ

सामोङ रमा कहा जाता है। प्रत्येक पूजा में पशुओं की, यथा- भैंस, बकरे, कबूतर आदि की बलि दी जाती है। मयाल और हदा मोई तांमानि अनुष्ठान हदा अचाई एवं लुकू मोई तांमानि और नुखूङ सामोङ रमानि अनुष्ठान लुकू अचाई द्वारा संपन्न किए जाते हैं। साथ ही प्रत्येक अनुष्ठान से पहले लांप्रा पूजा की जाती है। इस पूजा में जमातिया समाज के प्रत्येक स्त्री एवं पुरुष भाग ले सकते हैं।

3. गॉरिया पूजा: उक्त सभी पूजाएँ संपन्न होने के बाद बाबा गॉरिया की पूजा की तैयारी की जाती है। वस्तुत: गॉरिया पूजा ही जमातिया जनजाति का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र बिन्दु है। उनके द्वारा लगभग चार सौ बीस वर्षों से गॉरिया नामक लोक देवता की पूजा की जा रही है। इस पूजा के दौरान यानी चैत्र अंतिम दिन से वैशाख के छठे दिन तक इस समाज के लिए अन्य देवी-देवताओं की पूजा मनाही है। त्रिपुरा में इस समुदाय के दोनों अकराओं के निर्देशन में दो जगहों पर गॉरिया पूजा मनाई जाती है। दोनों गॉरिया देवताओं के अलग-अलग नाम हैं- बिया गोनांग और बिया कोरोई। दोनों की पूजा एक साथ, पर अलग-अलग स्थानों में (खेरफाङ के आंगन में) की जाती है, मगर ग्राम परिक्रमा केवल 'बिया गोनांग बाबा गॉरिया' की ही होती है। जमातिया हदा द्वारा बाबा गॉरिया की पूजा कैसे की जाती है, आइए इसे समझते हैं-

(क) चुकबार[15]**:** चुकबार यानी देशी शराब। गॉरिया पूजा शुरु होने से ठीक सात दिन पहले खेरफांग के घर लाम्प्रा पूजा की जाती है। पूजा के बाद खेरफांग के घर के आंगन में औरतें चूल्हा बनाती है। अचाई द्वारा चूल्हा पूजा के बाद पूरी विधि-विधान के साथ बाबा गॉरिया के लिए 'चुकबार' बनाई जाती है। मान्यता है कि बाबा गॉरिया को 'चुकबार' बहुत पसंद है, इसलिए मुख्य पूजा के दिन बाबा की बाङचाई[16] में स्थापना के बाद नियमानुसार पूजा कर सबसे पहले भोग के रूप में 'चुकबार' चढ़ाई जाती है। देवता की जब ग्राम परिक्रमा कराई जाती है तब भी 'चुकबार' को 'लाङखा'[17] में डालकर गाँव के जिन घरों में बाबा की स्थापना की जाती है। वहीं 'लाङखा' को भी बाबा के चरणों के सामने रखी जाती है। एक-दो ग्राम परिक्रमा के बाद बाबा को बीच-बीच में 'लाङखा' में रखी हुई चुकबार चढ़ाई जाती है।

(ख) रायदाङ: गॉरिया पूजा और जमातिया समाज व्यवस्था को समझने के लिए 'रायदाङ' को जानना बहुत जरूरी है। इस समाज में 'रायदाङ' भक्ति, शक्ति और शासन के प्रतीक है। जिसे धारण करने का अधिकार केवल हदा अकरा एवं खेरफांग को है। जिस दिन से वे 'रायदाङ' धारण करने के अधिकारी बन जाते हैं। उस दिन से वे जमातिया समाज के पालक अर्थात पिता कहलाते हैं। उनकी जिम्मेदारी समाज व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाना और अपराधी को 'रायदाङ' के माध्यम से सही रास्ता दिखाना है। सामाजिकों में जितनी भक्ति, आस्था एवं विश्वास बाबा गॉरिया के प्रति है, उतनी ही श्रद्धा, भक्ति एवं आस्था 'रायदाङ' के प्रति भी।

(ग) हारि बुइसू: हारि बुइसू के दिन सुबह-सुबह गांव के कुछ लोग खेरफ़ांग के घर में रखींबाबा की पूजा से संबंधित चीजें यथा बाबा का मुखौटा, त्रिशूल, दाव, नाक्रि[18], ढोल, बर्तन, पिछले साल दान मे मिले कपड़े आदि को निकालकर नदी पर ले जाते हैं और इन सभी चीजों को अच्छे से धोकर बाङचाई पर सुखा देते हैं। उसी दिन कुछ लोग गॉरिया अचाई और बारुआ[19] के साथ पास के निर्धारित जंगल में जाकर बाँसों की पूजा की जाती है, इसके बाद तीन चुनिंदा बांस काटकर खेरफ़ांग के आंगन वाली बाङचाई पर लाकर रख दिए जाते हैं। इसके बाद शाम को नदी किनारे पर बनी बाङचाई और खेरफ़ांग के आंगन में बनी बाङचाई दोनों की पूजा की जाती है। खेरफ़ांग के यहाँ रातभर कीर्तन होता है। खेरफ़ांग के आंगन में, अकरा, पांचाई और चकदिरी के घर में हारि बुइसू से लेकर सेना तक रोज रात को कीर्तन होता है, जिसमें बाबा गॉरिया की महिमा के गीत गाए जाते हैं। कीर्तन के दौरान नृत्य जमातिया भक्तजन बाबा लीन होकर नृत्य भी करते हैं।

(घ) महाबुइसू: दूसरे दिन यानी महाबुइसू के दिन इन तीनों बाँसों को खेरफ़ांग के घर के आंगन की बाङचाई से निकालकर नदी में धोया जाता है, फ़िर नदी किनारे वाली बाङचाई में ले जाकर काट-छीलकर बाबा गॉरिया की प्रतिमा बनाई जाती है। इस प्रतिमा पर पर ताजा सूत के सफ़ेद कपड़े लपेटे जाते हैं, उसके बाद दान में मिले कपड़ों को बाँधा जाता है और बांस

के ऊपरी सिरे पर बाबा गॉरिया के मुखड़े का प्रतीक सोने का मुखौटा लगा दिया जाता है। इसके बाद बाबा गॉरिया की पूजा करके प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है और खेरफ़ांग वाली बाङचाई में लाकर आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। बाबा गॉरिया के दोनों ओर त्रिशूल भी स्थापित किए जाते हैं। इसके बाद पूरी रीति-रिवाजों के साथ बाबा गॉरिया की पूजा की जाती है। इस पूजा के दौरान बतख के अंडे, धान, खांचोई[20], केले के पत्ते, कपास, दूब, लाङखा आदि का उपयोग किया जाता है। यह पूजा दिन-भर चलती है। इस दौरान कबूतर, बकरों और भैंसे की बलि दी जाती है। इस पूजा में अन्य पशुओं की बलि निषिद्ध है।

(ङ) बाबा की गाँव परिक्रमा: महाबुइसू के अगले दिन सुबह खेरफाङ वाली बाङचाई में बाबा की पूजा होती है, फ़िर अचाई के निर्देशानुसार बाबा गॉरिया को बाङचाई से निकालकर ग्राम-परिक्रमा के लिए ले जाया जाता है। इसमें अचाई, बगला, पांचाई, चकदिरी, बलि देने वाले, दरिया, बाबा गॉरिया का कीर्तन-समूह, हरसिनि-तंगनाईरग[21], अन्य भक्तगण आदि शामिल होते हैं। यह परिक्रमा सेना तक दिन-रात हदा द्वारा निर्धारित गाँवों में चला करती है। प्रत्येक गाँव में ये समूह सबसे पहले चकदिरी के घर पहुँचता है, वहाँ पहले से बने आसन पर बाबा गॉरिया की स्थापना की जाती है, पूजा एवं बलि होती है, इसके बाद ये उस गाँव के प्रत्येक हिन्दू जमातिया घरों में जाकर पूजा करते हैं। गौरतलब है कि इस समूह का हिन्दू जमातिया घरों के अलावा किसी अन्य धर्मानुयायी के यहाँ जाना निषिद्ध है। अगर किसी घर में कोई नवजात पैदा हुआ है, या हाल ही में मृत्यु हुई है, यानी अशौच हुआ है, वहाँ भी ये समूह प्रवेश नहीं करेगा। इसके लिए जगह-जगह संकेत देने के लिए खङ[22] गाड़ दिए जाते है। पूजा करके यह समूह अगले घर के लिए प्रस्थान कर जाता है। इसके तुरंत बाद उस घर में बगलाओं का एक समूह पहुंचता है, वे उस घर के सभी सदस्यों को अपने सामने बिठाकर देशी शराब पीते हुए उनके सुख-समृद्धि की कामना करते हैं। इस तरह सेना तक यह प्रक्रिया चलती रहती है।

(च) सेना: सेना यानी वैशाख के छठे दिन तक ग्राम परिक्रमा के लिए निकले इस समूह को दोपहर तक वापिस खेरफ़ांग के घर में पहुँचना होता है। वहाँ आकर बाङचाई में बने आसन पर बाबा की पुन: स्थापना की जाती है। पहले दिन की तरह पूरी रीति-रिवाजों के साथ बाबा की पूजा होती है। महाबुइसू के दिन अथवा ग्राम-परिक्रमा के दौरान किसी कारण से जो लोग बाबा के नाम की बलि नहीं चढ़ा पाते, वे लोग सेना के दिन कबूतर, बकरों और भैंसें की बलि देते हैं। बलि के बाद बाबा की अंतिम पूजा होती है, उनसे अगले साल फ़िर आने की प्रार्थना की जाती है। इसके बाद खेरफ़ांग के आंगन में बनी बाङचाई से उन्हें निकालकर ढोल बजाते हुए तीन चक्कर लगाए जाते हैं, फ़िर सब लोग नदी किनारे बनी बाङचाई में पहुंचते हैं। वहाँ भी बाङचाई के तीन चक्कर लगाए जाते हैं। इसके बाद बाबा के सारे कपड़े, उनका मुखौटा आदि निकाले जाते हैं, फ़िर मोताई बालनाई उन्हें कंधे पर रखकर बीच नदी में उतरता है और उनका विसर्जन कर हाथ जोड़ते हुए विदा कर देता है। इसके बाद सारे लोग नदी में स्नान करते हैं। इसी के साथ दोनों बाङचाई में प्रयोग हुए बांसों आदि का भी विसर्जन कर दिया जाता है।

4. मायलुमा-खुलूमा[23]: जमातिया समुदाय में पारिवारिक स्तर पर यह पूजा साल में दो बार की जाती है। एक सेना के दिन यानी बाबा गॉरिया के विसर्जन के बाद सभी जमातिया परिवारों के द्वारा घर आकर मायलुमा एवं खुलूमा की पूजा की जाती है। मान्यता है कि बाबा गॉरिया जाने से पहले साल भर के लिए जमातिया समुदाय के स्वास्थ्य, सुख-समृद्धि का ध्यान रखने की जिम्मेदारी मायलुमा एवं खुलूमा देवियों को देकर जाते हैं। दूसरा जब झूमखेत से नई फसलें पहली बार घर लाई जाती है। नए चावल से भरे हुए दो कलशों को कपास की माला और फूलों से सजाकर मायलुमा-खुलूमा देवियों के प्रतीक बनाए जाते हैं। इसे स्थानीय भाषा में रंदक[24] पूजा भी कहा जाता है। यह पूजा गाँव के अचाई या परिवार के कोई एक सदस्य द्वारा पारिवारिक कल्याण के लिए संपन्न की जाती है। पूजा सामग्री: केले की पत्तियाँ, पके केले, चावल, चीनी, बताशे, आंवा (नए चावल से बनी मिठाई) आदि।

5. केर पूजा[25]: हदा अकरा के निर्देशानुसार यह पूजा हर

साल प्रत्येक गाँव में लुकू चकदिरी द्वारा सुविधानुसार अलग-अलग तिथियों में संपन्न किए जाते हैं। 'केर पूजा' के माध्यम से इस समुदाय के लोग लोक से परलोक तक की यात्रा करते हैं। यह पूजा उनके जीवन के हरेक पहलू से जुड़ी हुई हैं। जन्म से लेकर मृत्यु एवं उसके बाद तक के संस्कारों में यह पूजा की जाती है। जिसमें 'खडः' की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी एक गाँव में जब यह पूजा की जानी होती है, तब सबसे पहले लुकू अचाई (गाँव के पुजारी) अपने सहयोगियों के साथ ग्राम परीक्षण करता है और गाँव की मुख्य सड़क से जुड़ने वाले हर एक रास्ते पर चिरे हुए ताजे बाँस गाड़ देता है, जिन्हें 'खडः'[26] कहा जाता है। यह आवागमन निषेध के प्रतीक हैं। पूजा के दौरान गाँववालों का खडः से बाहर जाना और बाहर के लोगों का गाँव अर्थात खडः के भीतर प्रवेश पूरी तरह निषिद्ध है। इसके अलावा जबतक पूजा हो रही होती है गाँव वालों का नदी-घाटों, झूमखेतों, खेतों एवं शिकार आदि के लिए जंगलों में जाना मनाही है। पूजा के दौरान गाँव में किसी बच्चे का जन्म या किसी की मृत्यु दोनों को अशुभ माना जाता है। पूर्व में पूजा आरंभ होने से पहले ही गर्भवती स्त्रियों और मृत्यु से जूझ रहे व्यक्ति को गाँव की सीमा से बाहर ले जाने का निर्देश दिया जाता था, क्योंकि पूजा के समय हँसना-रोना, गाना-बजाना, यहाँ तक कि एक शब्द भी बोलना मना है। पूजा संपन्न होने के बाद वे सब पुन: गाँव लौट सकते हैं। अगर इस दौरान गाँव के बाहर ही किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो बाहर ही उस व्यक्ति का अंतिम संस्कार कर दिया जाता है। इसके पीछे मान्यता है कि सृष्टि के आरंभ में जन्म और मृत्यु दोनों ही नहीं होते थे, इसलिए उस परंपरा का पालन किया जाता था। माना जाता है कि इस नियम का उल्लंघन होने पर पूरे साल गाँव वाले बीमार पड़ते हैं और उनका अमंगल होता है। वर्तमान में इस संबंध में अचाई का निर्णय एवं निर्देश ही महत्वपूर्ण है। साधारणत: यह पूजा सुबह से शाम तक की जाती है। पूजा से एक दिन पहले सारी रात चकदिरी के घर कीर्तन किया जाता है। पूजा के बाद अचाई अपने सहयोगियों के साथ गाँव की परिक्रमा करते हुए प्रत्येक घर में 'मुद्रा'[27] (मंत्रोच्चारित बाँस का छोटा चुंगा) बाँधते हैं। मुद्रा की गाँठ एक ही साँस में बाँधी जाती है। ये सारे कार्य लुकू चकदिरी के माध्यम से संचालित किए जाते हैं। स्थानीय भाषा में इसे 'कामि मुद्रा खामा' भी कहा जाता है।

इस दिन गाँव में एक साथ कई देवी-देवताओं की पूजा की जाती है, यथा- लांप्रा, बुरासा, नाक्रि (गाँव सुरक्षा देवता), आकाथा, बिकाथा, चैत्र सेङगोरा, केर, तोय सोकाल (जल देवी) आदि। उल्लेख्य है कि यह जनजाति मूर्ति की पूजा नहीं करते हैं बल्कि वे ताजे वाथोई बाँस, जिसे स्थानीय भाषा में वाथप कहा जाता है या मिट्टी की कलश से इन देवी-देवताओं के प्रतीक बनाते हैं। पूजा में बकरे की बलि दी जाती है। बड़े-बड़े रोगों, महामारियों (कलेरा, मलेरिया आदि बीमारी), प्राकृतिक दुर्भिक्ष, अपदेवताओं की कुदृष्टि से गाँव वालों की रक्षा, उनकी सुख-समृद्धि, शांति एवं उनकी मंगल कामना के लिए यह पूजा की जाती है। चावल, चीनी, केले, बताशे और लाल सिन्दूर आदि सामग्री पूजा में प्रयोग किए जाते हैं।

केर पूजा वाले दिन ही शाम को गाँव की सीमा में नाक्रि/ दुवारी फमानि अथवा खि-बोथार पूजा की जाती है। यहाँ नाक्रि गाँव-रक्षा देवता के प्रतीक है। अनेक नियमों का पालन करते हुए यह पूजा-पद्धति पूरी की जाती है। इस पूजा में कतुवा साला और नाजिसाला नामक दो व्यक्तियों की जीवन-कथा सुनाई जाती है। इस कथा को अन्य किसी भी जगह और समय में सुनाना निषिद्ध है। अचाई जब यह कथा सुनाकर खत्म करने वाले होते हैं तब मुख्य पूजा शुरू किया जाता है। पूजा के दौरान बात करना, हँसना-रोना, मजाक करना आदि मना है। मान्यता है कि ऐसा करने पर गाँव वालों का अशुभ और अमंगल होते हैं। इस पूजा में तीन कबूतरों की बलि दी जाती है। बलि के बाद सहयोगी अचाई साँस बंद करके नाक्रि एवं कबूतरों को वहीं जमीन में गाड़ देता है। उसके बाद अचाई पूजा-समाप्ति की घोषणा करता है और सारे लोग पास के नदी-घाट आदि में नहाकर चकदिरी के घर चले आते हैं। सारे गाँव वाले 'सेमा'[28] जानने के लिए चकदिरी के घर समवेत होते हैं।

6. बलडः सुवामा[29]**:** अन्य सभी जनजाति समुदाय की भाँति जमातिया जनजाति भी मूलत: प्रकृति की पूजा करती है। उनके

समाजपति यानी हदा अकरा की निगरानी में हर साल बलङ सुवामा पूजा की जाती है। इस दिन प्रकृति-देवता से जमातिया समुदाय की सुख-शांति, समृद्धि, उनकी जमीन और जंगल की सुरक्षा, उनकी खुशहाल जीवन की प्रार्थना की जाती है। साथ ही हदा की संतानों को बताया जाता है कि प्रकृति उनके पिता है, उनका आदर और सम्मान करना उनकी पहली जिम्मेदारी है। अनावश्यक जंगल को न काटे और न जलाए। जितनी जरुरत है उतना ही जंगल को प्रयोग में लाए। हदा अकरा के गाँव की सीमा वाले जंगल में उन्हीं के नाम से यह पूजा दी जाती है। इस दिन एक साथ कई देवी-देवताओं यथा- थुनाइरग, बनिरग, बुरासा, जङपिरा और हायचुकमा आदि की पूजा की जाती है। थुनाइरग-बनिरग देवताओं की पूजा में दो बकरे, बुरासा देवता की पूजा में एक बकरा, जङपिरा की पूजा में एक बतख एवं हायचुकमा देवी की पूजा में दो बतखों की बलि दी जाती है। इसके अलावा खोई, चावल, केले, बताशे, देशी शराब, नए वस्त्र आदि सामान भोग के रूप में चढ़ाए जाते हैं। भोग में चढ़ाए गए प्रसाद को गाँव के किसी भी परिवार में ले जाने की मनाही है। इसलिए पूजा स्थल में ही भोजन की व्यवस्था की जाती है। सभी देवताओं के प्रतीक ताजे वाथोई बाँस से बनाए जाते हैं। पहले यह पूजा अगहन महीने में की जाती थी, अब अषाढ़ के महीने में की जाती है। यह पूजा हदा अचाई द्वारा संपन्न की जाती है। इस पूजा में हदा द्वारा बनाई गई पूजा समिति के सदस्य, हदा अकरा के गाँव के स्त्री-पुरुष एवं अन्य जमातिया गाँवों के चुनिंदा स्त्री-पुरुष शामिल होते हैं। जैसा कि हर पूजा से पहले लांप्रा दी जाती है, उसी तरह 'बलङ सुवामा' पूजा से पहले भी अकरा के आंगन में लांप्रा दी जाती है।बलङ सुवामा यानी प्रकृति पूजा में प्रयोग किए जाने वाली सामग्री की सूची इस प्रकार है-

(क) नाक्रि कङसा (ताजे वाथोई बाँस से बना एक नाक्रि)

(ख) थारुकसा कङसा (ताजे वाथोई बाँस से बना एक बड़ा चम्मच)

(ग) दिक कङसा (कपास की माला से सजी ताजे वाथोई बाँस की एक काठी।)

(घ) लाङखा कङसा (देशी शराब से भरी ताजे बाँस का एक चुंगा)

(ङ) खांचोई किसा (मुट्ठी भर खील)

(च) दो केले के पत्ते

(छ) पसा खालायसा (चीनी, बताशे, केले, चावल आदि)

(ज) एक बकरा

(झ) बोतोक तोकसा (देशी शराब बनाने के लिए तैयार की गई फर्मेंटेड चावल से भरी एक छोटी कलश)

(ञ) चक बतलनोई (दो देशी शराब की बोतलें)

(ट) हायचिङ चङप्रेङ (अदरक से बनी बनी हुई सब्जी)

(ठ) खरंगसा खुङसा (बेंत से बनी एक छोटी टोकरी)

(ड) थायलोई कमो थायसा (एक पका हुआ केला)

7. माय खुलूमा: 'बलङ सुवामा' पूजा के दिन ही हदा अकरा के घर 'माय खुलूंमा' पूजा की जाती है। इस दिन पूरे समुदाय की ओर से माय खुलूमा एवं लांप्रा पूजा एक साथ की जाती है। यह पूजा जमातिया समुदाय में धन-संपत्ति की समृद्धि एवं उनकी खुशहाली की कामना के लिए की जाती है। उल्लेख्य है कि केवल इसी दिन हदा अकरा के घर के भीतर लांप्रा पूजा की जाती है। अन्य दिनों में यह पूजा आंगन में की जाती है।

पूजा सामग्री-

क. वाथो कङसा (ताजे वाथोई बाँस का एक टुकड़ा, जोड़ वाला भाग)

ख. थारुकसा कङसा (ताजे वाथोई बाँस से बना एक बड़ा चम्मच)

ग. दिक कङसा (कपास की माला से सजी ताजे वाथोई बाँस की एक काठी।)

घ. लाङखा कङब्रोई (देशी शराब से भरी ताजे बाँस के चार चुंगे)

ङ. रिसा काङनोई (दो रिसा/ पारंपरिक वस्त्र)

च. खुतूरुङ ताङथाम (कपास की तीन मालाएँ)

छ. पात जरब्रोई (कटहल की आठ पत्तियाँ)

ज. फारुक माब्रोई (चार कबूतर)

झ. शुद्ध धागे

पूजा में प्रत्येक जमातिया परिवारों में सुख-शांति, समृद्धि, फसलों में वृद्धि की कामना की जाती है। खुलूमा देवी

की पूजा के लिए घर के भीतर एक झूला बनाया जाता है। जिसमें एक आंवा बोथाई[30] को झूले में लिटाकर दुलार किया जाता है। औरतें लोरी गाती हुई उसे सुलाती है। यह पूजा हदा अचाई द्वारा की जाती है।

8. कोथार चिब्रोई मोताई (चौदह देवता) : जमातिया जनजाति में कोथार चिब्रोई मोताई (चौदह देवता) की पूजा भी अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस समाज में चौदह देवताओं की पूजा मुख्य रूप से बच्चे के अन्नप्रासन एवं विवाह के समय ही की जाती है। इसकी स्थापना मुख्य घर के द्वार के सामने की जाती है। प्रतीक रूप में चौदह वाथोई[31] बाँस के छोटे-छोटे टुकड़े (वाथो) द्वार के सामने गाड़े जाते हैं। चौदह देवताओं की स्थापना से पहले स्थान या जगह को पवित्र किया जाता है। जगह पवित्र करने के बाद उसे वाथोई बाँस से बेड़ा बनाकर सुरक्षित किया जाता है और उसके दो प्रवेश द्वार बनाए जाते हैं। पूजा सामग्री: कपास, शुद्ध धागे, चावल, बताशे, चीनी, केले, केले की पत्तियाँ आदि।

9. संगोत्रां मा: पारिवारिक सुख-शांति, समृद्धि एवं उन्नति हेतु यह पूजा की जाती है। इसके अलावा घर का कोई भी अमूल्य वस्तु खो जाने पर देवी माँ को स्मरण किया जाता है और वस्तु मिलने के बाद, घर के किसी सदस्य की तरक्की होने पर या अन्य कोई शुभ समाचार मिलने पर देवी संगोत्रां मा की पूजा की जाती है। पूजा के दौरान कमलापति[32] की कथा सुनाई जाती है। यह पूजा संध्या समय की जाती है। कथा के बीच में बकरे की बलि दी जाती है, बलि के बाद कथा पूरी की जाती है। अचाई ही कथा सुनाए यह जरूरी नहीं है, घर का कोई भी बुजुर्ग कथा सुना सकता है। इस पूजा के अलावा अन्य किसी अनुष्ठान या सामान्य दिनों में इस कथा को सुनाने की मनाही है।

10. हजाईगिरी: जमातिया समाज में साल में एक बार दुर्गा पूजा के सातवें दिन अर्थात दशहरे के बाद यह पूजा की जाती है। चावल से भरे हुए हांडी से देवी माँ का प्रतीक बनाया जाता है। पारिवारिक शांति, सुख-समृद्धि, विकास और फसलों में वृद्धि के लिए यह पूजा की जाती है। इस समाज में हजाईगिरी के दिन झूठ बोलना एवं चोरी करना गलत नहीं माना जाता है, परन्तु अमूल्य या महंगे वस्तुओं की चोरी करने की मनाही है। इस दिन घर-घर में कई पकवान और मिठाई बनाए जाते हैं, जिसे गाँव के बच्चों के लिए रख दिया जाता है। मौज-मस्ती के बीच गाँव के हर उम्र के लोग समूह/ ग्रुप बनाकर ढेर सारी ताजी हरी सब्जियाँ, फलों (नारियल, पपीता, सीताफल, गन्ने आदि), मछलियों, मुर्गे-मुर्गियों, बतखों आदि की चोरी करते हैं। जिन्हें वे दूसरे दिन मिल बाँटकर खाते हैं। यह उत्सव बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है। इस दिन कई सांस्कृतिक अनुष्ठान, कथावाचन, गीत-नृत्य आदि का आयोजन किया जाता है। इस पूजा में बलि नहीं दी जाती। पूजा सामग्री-केले की पत्तियाँ, पके केले, चावल, चीनी, बताशे और नई फसल/ धान की बालियाँ।

11. हाडग्राई: जमातिया समुदाय द्वारा बड़े उत्साह एवं आनन्द के साथ पौष-संक्रांति का पालन किया जाता है। स्थानीय बोली में इसे हाडग्राई कहा जाता है। मान्यता है कि हाडग्राई के दिन व्यक्ति पशु-पक्षियों के उठने से पहले भोर में उठकर नहाता है, तो उसके शरीर का कष्ट दूर होता है। बड़े रोगों से उसे मुक्ति मिलती है, उसका कल्याण होता है। इस दिन गृहस्वामी एवं स्वामिनी स्नान के बाद सबसे पहले रंदक[33] को प्रणाम करते हैं। उसके बाद वे घर के बड़े-बुजुर्गों सहित गाँव के बड़े और गुरूजनों का पाँव छू कर उनका आशीर्वाद लेते हैं। बच्चे नहाकर सबसे पहले माता-पिता फिर बड़े-बुजुर्गों का पाँव स्पर्श कर उनका आशीर्वाद लेते हैं। युवक-युवतियाँ मिलकर इस दिन विशेष भोजन की व्यवस्था करते है। गाँव के नवविवाहित दम्पत्तियों को इस दिन घर बुलाकर भोजन कराने का रिवाज है। इससे संबंधों में मिठास बनी रहती है। साथ ही इस दिन गत वर्ष हुए मृतकों की अस्थि विसर्जन कर गाँव के बड़े-बुजुर्गों को भोजन कराने की परंपरा है।

12. बुरासा मोताई[34]: यह पूजा अपदेवताओं की बुरी नजरों से मुक्ति पाने के लिए की जाती है। प्राय: बच्चों के ऊपर बुरासा मोताई की नजर रहती है। यदि कोई बच्चा दोपहर में जंगल या किसी निर्जन स्थान में अकेला खेलता है। रात की अंधेरे में अकेला घूमता है तो उसे बुरासा मोताई की नजर लगती है। स्थानीय भाषा में इसे 'बुरासा सिलि नाङ' कहा जाता है। यदि

शिशु दिन में स्वस्थ रहता है पर संध्या होते ही डर से काँपने लगता हो, जोर-जोर से रोता हो, बार-बार नींद से जागकर रोने लगता हो, उसे बुखार आदि आता हो, किसी बड़े के हाथ-पाँव में अचानक दर्द उठने लगे तो बुरासा की नजर लगी है, इस आशंका से गाँव के अचाई के पास जाकर लोग अपनी समस्याएँ कहते हैं। अचाई दिन और तिथि देखकर बुरासा की पूजा करता है। यह पूजा कई समय में की जाती है, जैसे-दोपहर की सिलि होने पर दोपहर में, संध्या सिलि की पूजा संध्या में, रात की सिलि की पूजा रात में की जाती है। बुरासा पूजा में बकरे या मुर्गे की बलि दी जाती है। बुरासा देवता की पूजा घर-आंगन से दूर निर्जन जगह में ही की जाती है। प्रसाद को घर ले जाना निषिद्ध है इसलिए पूजा-स्थल में ही भोजन की व्यवस्था की जाती है। पूजा समग्री-ताजे वाथोई बाँस का जोड़ वाला हिस्सा, जिसे वाथो कहा जाता है, चावल, केले, खोई, चीनी, बताशे, कच्ची हल्दी आदि।

13. नक्सु मोताई[35]**:** जमातिया समाज में नक्सु मोताई (शांति, कुंति एवं विश्वरी देवियाँ) की पूजा भी प्रचलित है। परिवार में इन देवियों की स्थापना समाज से छुपाकर किया जाता है। यदि कोई व्यक्ति किसी के घर से लौटने के बाद उल्टी करता हो, उसे चक्कर आने लगता हो, उसे सिर दर्द होने लगता हो तो लोग अचाई के पास निदान के लिए जाते हैं। अचाई ध्यान लगाकर बता देता है कि उसे नक्सु मोताई की बुरी नजर लगी है। स्थानीय भाषा में इसे 'थिकाना नायमोङ' कहा जाता है। उसके बाद अचाई मंत्र पढ़कर बीमार व्यक्ति के ऊपर पवित्र जल छिड़कता है, जिससे वह ठीक हो जाता है। या फिर पसा खालाइसा अर्थात केले, बताशे, चीनी, थोड़े से चावल से तीनों देवियों को स्मरण कर भोग लगाया जाता है। यह एक तरह से परिवार विशेष द्वारा की जाने वाली पूजा है।

14. नवारी खर: जमीन के नीचे कोई बड़ा सुरंग या गड्डा को स्थानीय बोली में नवारी खर कहा जाता है। लोक मान्यता है कि घर के आस-पास कोई पुराना और बड़ा सुरंग या बड़े पेड़ की जड़ें घर के भीतर आ जाए तो अशुभ होता है। इससे घर के लोग बीमार पड़ने लगते हैं। ऐसे में कुछ लोग अचाई के निर्देशानुसार या तो निवास स्थान बदल लेते हैं या फिर अपदेवता की कुदृष्टि से परिवार वालों की रक्षा एवं स्वास्थ्य लाभ के लिए अचाई बुलाकर वे नवारी खर की पूजा कराते हैं। इस पूजा में बतख या मुर्गे की बलि दी जाती है। यह पूजा दोपहर में की जाती है।

15. बोरोईरग: जमातिया समाज में परिवार का कोई सदस्य यदि बहुत दिनों से बीमार रहने लगता है तो अचाई बुलाकर बोरोईरग नामक पूजा देने की प्रथा प्रचलित है। इस पूजा में सात देवियों को एक साथ भोग लगाया जाता है। ये देवियाँ बहनें मानी जाती है। जिनकी कुदृष्टि पड़ने से व्यक्ति बीमार/अस्वस्थ रहने लगता है। इसकी पूजा ताजे बाँस का मचान बनाकर उसके ऊपर पका हुआ चावल, आंवा (चावल की बनी मिठाई), खोई आदि का भोग लगाकर संपन्न किया जाता है। इस पूजा में बतख, मुर्गे, कबूतर, बकरे, कछुए आदि की बलि दी जाती है।

16. आमि कोथोई एवं मोख्रा कोथोई: जमातिया समाज में इन्सानों का ही नहीं पशु-पक्षियों का भी शमशान घाट बनाया जाता है। खासतौर पर बिल्ली और बन्दरों का। इनका शमशान घाट गाँव से दूर ही बनाया जाता है। लोक मान्यता है कि बिल्ली एवं बंदर की मृत्यु स्थान के संपर्क में यदि कोई व्यक्ति आता है या ऐसे स्थान पर बच्चे खेल-कूद करें तो वे बीमार पड़ते हैं। जिनसे मुक्ति या रक्षा के लिए अचाई द्वारा मुर्गे की बलि देकर शमशान घाट की पूजा की जाती है। यह पूजा दोपहर या साँझ को ही दी जाती है।

इन पूजाओं के अलावा, होली, दिवाली, दुर्गापूजा आदि सभी हिन्दू देवी-देवताओं की पूजा इस जनजाति द्वारा की जाती है।

उक्त सभी पूजा-पद्धतियाँ जमातिया जनजाति को जातीय एवं सामाजिकता की पहचान देती है। जिनके अनुपालन से समाज और अधिक संगठित होता है तथा सभी व्यक्ति अपने दायित्वों एवं कर्तव्यों के प्रति जागरूक होते हैं। यद्यपि वर्तमान में शिक्षा, आधुनिकता, शहरीकरण, भूमंडलीकरण एवं बाह्य संस्कृति के प्रभाव के कारण धीरे-धीरे जमातिया जनजाति की पूजा-पद्धतियों में काफी बदलाव आया है। □□

संदर्भ सूची -

1. देबबर्मा एवं त्रिपुरा सरनेम लिखने वाले समुदाय के लोग इसके अंतर्गत आते हैं।
2. त्रिपुरा का इतिहास ग्रंथ
3. मॉडर्निटी इन ट्रेडीशन: ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑफ़ द जमातिया ट्राइब ऑफ़ त्रिपुरा: डॉ. के. बी जमातिया, पेज नं 32, अक्षर प्रकाशन, अगरतला, 2007
4. वही, पेज नं 33
5. लोक देवता
6. मॉडर्निटी इन ट्रेडीशन: ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑफ़ द जमातिया ट्राइब ऑफ़ त्रिपुरा: डॉ. के. बी जमातिया, पेज नं 34, अक्षर प्रकाशन, अगरतला, 2007
7. वही पेज नं 34
8. समाज पति
9. बिना बाहु वाले बाबा गॉरिया
10. बाहु वाले बाबा गॉरिया
11. पवित्र
12. अशौच
13. बलि पूजा
14. माँ त्रिपुर सुन्दरी की पूजा, जो कि उदरपुर, गोमती जिला में स्थित है।
15. देशी शराब
16. ये दो बनाए जाते हैं- एक हारि बुइसू के दिन बाबा गॉरिया की स्थापना के लिए खेरफ़ांग के आंगन में बनाया गया बांस का मंडप होता है, इस मंडप में बांस सेएक आसन बनाया जाता है, बाबा की स्थापना इसी आसन पर की जाती है। तो दूसरा नदी किनारे बनाया जाता है।
17. बाबा गॉरिया के पूजा-स्थल पर बांस की एक पोरी काटकर उसमें शराब भरकर रखी जाती है..यह पोरी लाडखा कहलाती है
18. बलि के दौरान पशु की गर्दन को फंसाकर रखने वाला लकड़ी का सांचा..
19. सहायक अचाई
20. चावल की खील
21. स्वेच्छा से सात दिनों के लिए बाबा के नाम पर अपने को समर्पित करने वाले भक्तजन। इसमें बच्चे से लेकर बूढ़े तक शामिल होते हैं।
22. पूजा के दौरान शुद्धता बरतने के लिए जगह-जगह बांस चीरकर गाड़ दिए जाते हैं, ये एक तरह की लक्ष्मण-रेखा होते हैं, जो घर इनके खंग के अंदर आ जाते हैं, उनके लोगों का खंग से बाहर जाना और बाहर के लोगों का खंग के अंदर आना मना होता है।
23. अन्न एवं कपास की देवी
24. चावल से भरे कलश को स्थानीय बोली में रंदक कहा जाता है।
25. गाँव सुरक्षा एवं शुद्धिकरण हेतु की जाने वाली पूजा
26. निषेध, सुरक्षा एवं पवित्रता के प्रतीक
27. अपदेवताओं की बुरी नजर, प्राकृतिक दुर्घटनाओं एवं महामारियों, बड़ी बीमारियों से गाँव वालों की सुरक्षा हेतु यह मंत्रोच्चारित मुद्रा गाँव के हर घर के छज्जे पर बाँधा जाता है।
28. भविष्य
29. प्रकृति पूजा
30. यह मिठाई स्टिकी राइस को लाईरु नामक पत्ते में लपेटकर बनाया जाता है।
31. बाँसों के प्रकारों में से एक है। जिसे जमातिया जनजाति बाँसों का राजा मानती है, इसे सबसे अधिक पवित्र माना जाता है। हर पूजा में इसी बाँस का प्रयोग किया जाता है।
32. कमलापति के जीवन-संघर्ष एवं उसकी भकि से माँ कैसे प्रसन्न हुई की कथा सुनाई जाती है।
33. चावल से भरे हांडी, जिसका खाली होना अशुभ माना जाता है।
34. अपदेवता
35. नक्सु मोताई के नाम से तीन देवियों, शांति, कुंति और विश्वरी की पूजा की जाती है।

आलेख तैयार करने के दौरान निम्न विद्वानों से बातचीत की गई:

1. श्री किरीट किशोर जमातिया (पूर्व हदा सचिव), उम्र-75, पित्रा कामि, गोमती जिला
2. श्री नबकुमार जमातिया (पूर्व हदा अकरा), उम्र-72, गोमती जिला
3. श्रीमती नलिनी कन्या जमातिया, उम्र-74, खुमपोइलोंग कामि, गोमती जिला
4. श्रीमती कर्णरानी जमातिया, उम्र-80, रायो कामि, गोमती जिला
5. श्रीमती मालती कन्या, उम्र-77, हद्राई कामि, गोमती जिला
6. श्री पद्मलोचन जमातिया, उम्र-58, अगरतला, पश्चिम त्रिपुरा जिला
7. श्री सुबर्ण जमातिया (हदा कर्मचारी) ,उम्र-56, आथारोबुला, गोमती जिला
8. श्रीमती ज्योत्सना रानी जमातिया, उम्र-57, खुमपोईलोङ, गोमती जिला
9. श्री रामपद जमातिया (पूर्व हदा सचिव),उम्र-65,आथारोबुला, गोमती जिला
10. श्री जगपद जमातिया (पूर्व हदा अचाई), उम्र-83, खुमपोईलोङ, गोमती जिला

****

मिसिङ जनजाति: समाज एवं संस्कृति

डॉ. अभिजित पायेङ्,
सहायक प्राध्यापक,
आधुनिक भारतीय भाषा और
साहित्य अध्ययन विभाग
गौहाटी विश्वविद्यालय,
दूरभाष - 9678782792

परिचय :

मिसिङ् असम की द्वितीय सर्ववृहत जनजाति है। मानविकी विज्ञान के अनुसार, वे मंगोलीय जनजातीय समूह की मान-तिब्बती शाखा से संबंधित हैं। मिसिङ् को आमतौर पर 'मिरि' के नाम से भी जाना जाता है। 'मिरि' शब्द असम की मैदानी के लोगों द्वारा दिया गया नाम ऐसा माना जाता है। मिसिङ् लोग खुद को 'मिसिङ्' बताते हैं। यह मिरि नाम कब से कैसे पड़ा इसकी सठीक जानकारी नहीं है। संभवत, 'मिरि' या मिरू (पुरोहित विशेष) नाम से ही 'मिरि' शब्द की उत्पत्ति है। दूसरी ओर, 'मिरि' नाम की एक जनजाति उत्तरी असम के न्यिशी (डफला) पर्वत में भी पाएँ जाते हैं। इन्हें आम तौर पर पहाड़ी मिरि और मैदानी के मिसिङ् को मैदानी मिरि के नाम से जाना जाता है। पहाड़ी मिरि और मैदानी मिरि के नाम में समानता होने पर भी आपसी कोई संबंध प्रतीत नहीं होती है। दोनों मिरि सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से बहुत ही अलग हैं। इसके विपरीत, मैदानी के मिसिङ् या मिरि की चियांग जिले के आदी या आबर लोगों से निकटता हैं। कुछ लोग कहते हैं कि आदी-मिसिङ् एक ही वंश के हैं। मानविकी विज्ञान के अनुसार, मिसिङ्, आदी, गालो, न्यिशी (डफला), अपातानी और तागिन आदि एक ही जातीय समूह के हैं। इस दृष्टि से इनमें जातिगत ज्यादा अंतर नहीं है।

मिसिङ् कब से मैदानी भागों में बसने लगे, इसके बारे में इतिहास में कुछ भी जिक्र नहीं है। समसामयिक आहोम इतिहास में बिखरी किंवदंतियाँ, लोककथाएँ और प्रासंगिक संदर्भ से अनुमान किया जा सकता हैं कि वे मैदानी में लगभग आहोमों के समसामयिक थे और शदिया का चुटिया साम्राज्य लगभग विलुप्त प्राय: समय में ही मैदानी की ओर चले आए थे। कई मिसिङ् अब भी मानते हैं कि उनका पूर्व निवासस्थान असम की उत्तर की ओर स्थित पर्वत श्रृंखला में था। पादाम, मिन्योंग और आदी एक समय में उनके भाई थे। लोककथाओं के अनुसार, एक बार भूमि विवाद के चलते आपस में लड़ाई हुई। इससे बचने के लिए मिसिङ् मैदानी इलाके में आ गए। मिसिङ् मैदानों में उतरने के बाद ही 'मिसिङ्' नाम अपनाया ऐसा अनुमान है; क्योंकि इस बात का कोई सबूत नहीं है कि मिसिङ् नाम उस समय से पहले पहाड़ों में मौजूद था की नहीं। इस तरह 'मिरि', 'मिसिङ्' नाम पर कई और चर्चाएँ हमारे समक्ष है। फिर भी इन लोगों की भावनात्मक विचारों को ध्यान में रखते हुए ऐसा लगता है कि 'मिसिङ्' नाम ही सठीक है। क्योंकि 'मिरि' शब्द का प्रयोग वे असम्मान के सूचक मानते हैं।

वर्तमान मिसिङ् असम के लखिमपुर, धेमाजी, डिब्रूगढ़, शिवसागर, जोरहाट, चराईदेउ, माजुली, गोलाघाट, विश्वनाथ, शोणितपुर और कामरूप मेट्रो जिलों में हैं। अरुणाचल प्रदेश के चियांग और लोहित जिला में भी कुछ मिसिङ्

है। सन् 2011 के जनगणना के अनुसार असम में मिसिङ् जनजाति की वर्तमान आबादी 6,80,424 में से अधिक है। यह असम की कुल जनसंख्या का 2.58 प्रतिशत है।

समाज :

मिसिङ् समाज लोकतांत्रिक व्यवस्था से संचालित होता है। उनका कोई राजा नहीं होता। इसलिए, पूर्व निवासस्थान स्पष्ट रूप से निर्धारित करना मुश्किल है। कथित योजना के अनुसार, असम में मिसिङ् पूर्व में शदिया से लेकर पश्चिम में भरली नदी तक, ब्रह्मपुत्र के उत्तर और दक्षिण में बसे हुए हैं। सन् 1950 के दशक में भूकंप और बाढ़ के कारण वे अपनी पूर्व बस्तियों से तितर-बितर हो गए थे।

मिसिङ् गाँव आमतौर पर नदियों के किनारे स्थित होते हैं। वे अपनी उपजाऊ मिट्टी, परिवहन और अन्य प्राकृतिक सुविधाओं के लिए नदी किनारे के गाँवों को पसंद करते हैं। प्रत्येक गाँव में 200 तक के घर होते हैं। मचान की घर बाँस, बेंत और फूस से बने होते हैं। प्रत्येक घर 10/15 फुट से लेकर 150/200 फुट से अधिक लम्बाई का होता है। एक घर में 80/90 से अधिक लोग संयुक्त परिवार के रूप में रहते हैं। बदलते समय के परिपेक्ष्य में इसका बदलता स्वरूप भी हमारे समक्ष है। वे अपने घर लगभग उत्तर-दक्षिण की ओर बनाते हैं। गाँव आमतौर पर एक ही गोत्र के होते हैं। अन्य गोत्रों के लोग भी दूसरे गाँव में रह सकते हैं। उस स्थिति में, नये आने वाले लोगों को पूर्व गाँव के रीति-रिवाजों का अनुपालन करना होता है।

मिसिङ् गाँव से कुछ दूरी पर खेती करते हैं। वे अधिकतर झूम खेती करते थे। झूम खेती के लिए, हर वर्ष नए जंगलों को काटकर, उनमें आग लगाकर और मिट्टी को उर्वरित करने के बाद ही धान की रोपाई करने की परम्परा थी। लेकिन बढ़ती जनसंख्या और घटते जंगलों के कारण यह परम्परा ख़त्म होती नजर आती है। अन्य फसलों में आलू, सोयाबीन, मूंगफली, अदरक, पालक और लहसुन शामिल हैं। आजकल धान की खेती ही अधिक प्रचलन में है।

खेती-बाड़ी और अन्य गतिविधियों में मर्द और औरतें समान रूप से काम करते हैं। औरतें मर्दों के तुलना में अधिक मेहनती हैं। वे जुताई को छोड़कर कटाई से लेकर बुनाई तक हर चीज में समान रूप से कुशल हो सकती हैं। मिसिङ् औरतों के द्वारा बुनाई किया हुआ 'मिरिजिम' प्रसिद्ध है। नाव चलाने में भी मिसिङ् औरतें बहुत कुशल हैं। यहाँ तक कि नौकायन में मिसिङ् औरतों जैसी कुशल औरत दुनिया की अन्य जातियों में कम हैं। घरेलू काम के अलावा, बाहरी आय अर्जित करने के लिए मुर्गी, सूअर आदि पालन भी मिसिङ् औरतों का उल्लेखयोग्य कार्य है। औरतें खुद की बुनी हुई रंग-बिरंगी मेखला चादर पहनती हैं। मर्द धोती और गालुक (कमीज) पहनते हैं। उनकी वेशभूषाएँ रंगीन और वैचित्र्यपूर्ण होती हैं।

मिसिङ् को कई भागों में विभाजित किया गया है। इन भागों को गोत्र या टोल कहा जा सकता है। ये हैं - अयान, चायांग, मो:यिंग, देलू, पागरो, दाम्बोक, मिरांग या चामुगुरिया, तायु:ताये, तामार और च:मुआ। संभवत: ये गोत्र विभिन्न समय में अलग-अलग स्थान से असम आए है। या फिर अलग-अलग स्थानों से आने के कारण गोत्रों के नाम उनके पूर्व निवासों के नाम के अनुसार ही रहे।

इन प्रत्येक गोत्र के अलग-अलग कुलनाम भी हैं, जैसे: कुली, कुम्बांग, कुटुम, कामन, डाते, चारह, चिन्ते, चुंकुरांग, ताकू, तापे, तायुंग, टाईद, तारांग, ताबे, दांग, दासांग, डार्ग्, दोले, दा:लोंग, नरंग, नरह, पा:मे, पा:दुन, पा:येङ्, पांग्गौङ्, पे:गु, पा:युन, पगाग, पा:टिर, पेरमे, पेरटिन, पावु, पालेंग, पाईट, बोरी, बोराँग, पाचार, बा:चिंग, मरांग, मिपुन, मिलि, मिसोंग, कार्डोंग, मेगु, रेगोन, लेगो, यिरांग, येइन, पा:डी, बरुआ, गेजेरा आदि। इन कुलों के बीच किसी तरह के उच्च-नीच का विचार नहीं होता। सामाजिक मामलों में सभी का समान स्थान है। कुछ लोग यह चर्चा करते हैं कि मिसिङ् के बीच दहगाम और बारगाम नामक दो विभाग हैं। वास्तव में, मिसिङ् के बीच दहगाम या बारगाम का विचार नहीं है। दहगाम और बारगाम की चर्चा आहोम साम्राज्य के समय से ही हुआ है। इसके अलावा दहगाम या बारगाम करके कोई निश्चित कुल भी उपलब्ध नहीं है।

मिसिङ् की परिभाषित और सख्त विवाह नीति है। अंतरगोत्रीय विवाह निषिद्ध है। एक ही 'अपौन' या कुल के बीच विवाह नहीं होता। उदाहरण के लिए, 'पा:येङ्' कुल का विवाह किसी पा:येङ् कुल के बच्चों से नहीं किया जा सकता। विभिन्न कुलों के बीच भी ऐसी निश्चित नीतियाँ हैं। विवाह-पूर्ण

और निषिद्ध कुलों के बीच प्रचलित नीति अभी भी मौजूद है। विवाह केवल कुछ कुलों के अंतर्गत ही हो सकते हैं। तिब्बत और बर्मा की अन्य जनजातियों की तरह, मिसिङ् में भी मामा के घर से शादी करने की नीति है। हालाँकि, यह प्रमुख सामाजिक प्रथा बन गई है। बहु-पत्नी विवाह प्रथा है, लेकिन बहु-पति विवाह नहीं है। मिसिङ् समाज में कोई बाल विवाह नहीं है। विधवा विवाह होते हैं, यहाँ लड़कियों को बहला-फुसलाकर या अपहरण करने के उपरांत 'गा-धन' (शारीरिक-मूल्य) भुगतान करके उनसे शादी करने का रिवाज है। साथ ही यहाँ सामाजिक रीति-रिवाजों के अनुसार विवाह करने की भी प्रथा है।

प्रत्येक गाँव पर उचित शासन के लिए एक मुखिया होता है जिसे 'गाम' (ग्राम प्रधान) कहा जाता है। गाँव में सभी प्रकार की सभा और विवादों को गाँव के 'केबांग' नामक अदालत के माध्यम से निपटाया जाता है, इस केबांग के निर्णय को ही अंतिम मान लेते हैं। कई केबांग मिलकर 'बा:ने केबांग', कई 'बा:ने केबांग' मिलकर 'बांग केबांग' होते हैं। इन केबांगों की तुलना वर्तमान की पंचायत प्रणाली के ग्राम पंचायत, आंचलिक पंचायत और महकमा परिषद से की जा सकती है। गामों का चयन उनके ही गाँव वासियों से किया जाता है। गाँव के बुजुर्ग योग्य व्यक्ति को 'गाम' के रूप में चुनते हैं। गामों का चयन वंशानुगत नहीं है। समाज के योग्य लोगों को ही 'गाम' (ग्राम प्रधान) के रूप में चुनने की परम्परा है। हालाँकि, वह गाँव का प्रमुख व्यक्ति है, लेकिन उसकी क्षमता और अधिकार सभी क्षेत्रों में सर्वोच्च नहीं होता। केबांग के सदस्य उनके फैसले को खारिज कर सकते हैं, गाँव के प्रशासनिक पहलुओं में ही 'गाम' की क्षमता सीमित होती है। धार्मिक कार्यों में गाम की विशेषता नहीं होती।

समाज में सभी व्यक्तियों को समान अधिकार एवं स्थान प्राप्त है। समाज में कोई उच्च-नीच का कुल नहीं है। गाँव के सार्वजनिक कार्य युवावर्गों (युवक-युवती) द्वारा किये जाते हैं। सार्वजनिक कार्यों के अलावा बिहू उत्सव आदि में भी युवाएँ आगे रहते हैं। इनका उचित प्रबंधन हेतु युवावर्गों का 'मौम्बौर-या:मे' नामक एक संगठन होता है। 'मुरोंग' सार्वजनिक सभागार है। 'मुरोंग' में विभिन्न त्योहारों, पूजाओं और मेहमानों की मेजबानी किया जाता है।

युवावर्गों के बीच 'दाग्लौग' या सहकारी समितियों के रूप में काम करने की नीति है। दूसरे शब्दों में कहें तो यदि एक युवक किसी की मदद करता है तो दूसरा भी उसकी मदद करने की परम्परा है। इसलिए पूरे गाँव के युवावर्ग मिलकर काम करते हैं। इसमें कोई पैसा या पारिश्रमिक नहीं लेता।

संस्कृति :

मिसिङ् रहन-सहन, खान-पान, रंग-बिरंगे वेशभूषा, त्यौहार धार्मिक रीति-रिवाज आदि स्वकीय संस्कृतियों से समृद्ध है। जिस तरह इनके 'याकान एगे', 'रि:बि गासेंग', 'ओरकोग', 'लुकरो गालुक', 'गनरो उगोन' जातीय सांस्कृतिक पहचान है उसी तरह 'मिसिङ् भाषा' उनकी भाषिक पहचान है। यह भाषा तिब्बत-बर्मी भाषा परिवार के अंतर्गत है। त्योहारों में 'पो:राग' और 'आलि-आये लृगांग' का अपना महत्व होता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक समय-समय पर मनाए जानेवाले अनेक धार्मिक रीति-रिवाज और परंपराएँ भी मजूद हैं। 'आलि-आये लृगांग' फाल्गुन महीने के पहला बुधवार को मनाया जाता है। फाल्गुन-चैत्र महीने में, आहूधान बुआई से पहले, धरती को फसलों से हरे-भरे करने हेतु माँ वसुमती (कि:ने-ना:ने) को आपोंग (चालव से तैयार किया गया पानीय विशेष), मछली आदि से पूजा की जाती है। उसी दिन खेत में फसलों के बीज बोने का काम प्रारंभ किया जाता है। 'आलि-आये लृगांग' का तात्पर्य, आलि – आलू आये – बीज लृगांग – प्रारंभ करने की प्रक्रिया है। अर्थात् बीज बोने का कार्य प्रारंभ करने का दिन है। साथ ही बोयी हुई फसलें प्राकृतिक आपदा, कूड़े-मकोड़े और अन्य क्रियाओं से नष्ट ना हो इसके लिए सृष्टि कर्ता 'दो:न्यी-पो:लो' (चन्द्र-सूर्य), 'रूग्जौंग मे:रांग' (कीड़े-मकोड़े), 'तगु गु:मौन-सो:यिंग' (देखभाल करने वाले विशेष) और 'ता:तो-या:यो' (पूर्वज) का आहवान करके 'पेनाम' (स्तुति गीत) प्रस्तुत किया करते हैं। जैसे,

"उपोका, गु:सिन गामांङे तोलो-बोलो लान्का।
सिलो तागग्यिंग तांन्गोको दोपे तौ:पेनामेम सिददुंग।
अपान आ:रेनेम कोगो:मांगोम बिसुयेकू।
कुम्दांग रिन्गोंङे का:तो तात्तोलांग्का,
सिनो यगने ता:तो-या:यो नलुते का:ला-
तादलांग्का।''

(आपदा, विफलता और बाधा-विघ्न इसकी चारों ओर से दूर हों। आज पाँच-दस साल के खाने का फसल बोना प्रारंम कर रहा हूँ, दीन-हीन को दान करूंगा। घर की लक्ष्मी देवी या मंगल रखवाले, मृत माँ-बाप, पूर्वोजगण - फसलों को देखभाल करने की कृपा करें।)

सुबह बीज बोने का काम सम्पन्न करने बाद शाम को 3-4 बजते ही गाँव के मुखिया के घर में से 'ले:नोंग' (वाद्य विशेष) बजाने की आवाज सुनते ही गाँव के एक तरफ से बुजुर्ग, युवावर्ग और चरवाहा (लड़के-लड़कियाँ) टोली बनाकर हर घर जाकर नृत्य-गीत करते हुए खान-पान का आनंद लेते हैं। इसमें बौरिंग नि:तम (लो लो:ले लो:ले लो:ले....), गुमराग सो:मान (लोक-नृत्य विशेष) का विशेष महत्व होता है। इसके अलावा भी 'कामरो ऐक्काम' (पत्ता विशेष) से लपेट कर पकाया गया 'पुरांग आपिन' (चावल विशेष) और 'तौ:मौ' (सुखी मछली से प्रस्तुत व्यंजन विशेष) इस उत्सव की विशेषता है। जैसे,

"लो लो:ले लो:ले लो:ले
दाबो लो:ले लो:ले लो:ले
सिसुग सुगबो सुगबो बदिया
रेगाम गाम्बो गाम्बो बदिया।"

(जिस तरह हिरण-हिरणी एकसाथ खुशियों से छलांग लगाकर दौड़ते हैं, हम भी इसी तरह आनन्द उत्सव में मत्त हैं।)

'पो:राग' त्योहार भी फसल से ही जुड़ा हुआ त्योहार है। फसल कटाई के बाद, अपने खाली समय में, गाँव के युवा, मर्द और औरतें विपत्तियों को रोकने और गाँव को खेत-खलीहनों से भरपूर करने के लिए सृष्टि कर्ता 'दो:न्यी-पो:लो' (चन्द्र-सूर्य) आदि देवी-देवताओं को शराब, सूअर और मुर्गियाँ चढ़ाकर आशीर्वाद लेते हैं। दोनों त्योहारों में युवावर्ग, मर्द और औरतें ढोल, पेंपा (मुँह से बजाने वाला वाद्य विशेष) और गगनाओं (बाँस से बनी मुँह से बजानेवाला वाद्य) की आवाज़ से मत्त होते हैं। 'पो:राग' त्यौहार में गाँव के प्रत्येक घर से ब्याही गयी लड़कियों को मेहमान के तौर पर बुलाने की परम्परा है। पहले यह त्यौहार हर साल मनाया जाता था। पर अब हर गाँव में तीन या पाँच साल के व्यवधान में दो या तीन दिन के लिए मनाने की परम्परा चल पड़ी है। इसमें 'मीनम' (मेहमान) के तौर पर दूसरे एक या दो गाँवों की सांस्कृतिक टोली को बुलाया जाता है। इस त्यौहार की तैयारी एक वर्ष पहले से ही शुरू हो जाता है। इसके आयोजन के लिए कई विशेष व्यवस्थापना टोलियों का गठन कर, कई पदों का सृजन किया जाता है। इन टोलियों में से 'मिगम बरा' व्यवस्थापना प्रमुख होता है। 'मिगम बरा' का दायित्व गाँव के मुखिया विशेष पर होता है। अन्य टोलियों में से युवावर्ग (लड़के) के लिए 'डेका बरा' और लड़कियों के लिए 'तिरी बरा' प्रमुख होते हैं। इनके चयन गाँव के हर काम में कुशल 'डेका' (युवक) और 'गाभरू' (युवती) में से किया जाता है। एक और विशेष पद 'बारौग', जो गाँव में कुछ बातें सार्वजनिक रूप से चर्चा हेतु लोगों को बुलाने के लिए नियोजित होता है। इस त्यौहार के लिए मुरोंग (सामूहिक सभागार), मिबू (पुरोहित) और मीनम (निमंत्रित अतिथि) अपरिहार्य होते हैं। दूसरी ओर, वर्तमान समय में मिबू (पुरोहित) की उपलबद्धता कम हो जाने के परिपेक्ष्य में 'पो:राग' का धार्मिक कार्य गाँव के किसी मिसिङ् धार्मिक रीति-रिवाजों का जानकार 'ज्येष्ठ' जनों से भी सम्पादित किया जा रहा है। यह त्यौहार मूलत: कृषि पर केन्द्रित है। परंतु इसे सांस्कृतिक विनिमय तथा समन्वय का त्यौहार के तौर पर भी देखा जा सकता है। क्योंकि, इसमें सांस्कृतिक लोक-गीत, लोक-नृत्य की प्रधानता देखने को मिलता है। इस तरह गाँव में 'पो:राग' त्यौहार की प्रस्तुति के चलते उत्सव और एक समन्वय का वातावरण भी देखने को मिलता है। मेहमानों को श्रद्धापूर्वक सम्मानित करके खिला-पिलाकर आत्मविभोर होना भी इस त्यौहार का एक महत्वपूर्ण पहलू है। उल्लेख्य 'पो:राग' और 'आलि-आये लृगांग' के अलावा, मिसिङ् असमिया बहाग बिहू, माघ बिहू और काति बिहू भी मनाते हैं।

मिसिङ् का अपना धर्म है। उनका मानना है कि एक निराकार ईश्वर है। वहीं संसार के रचयिता हैं। उन्होंने ही चंद्र, सूर्य, बिजली, बारिश आदि जैसे अन्य देवताओं की रचना की। देवता शुभ और अशुभ हैं। बुरे देवता लोगों को नुकसान पहुँचाते हैं, लेकिन अच्छे देवता उन्हें उस नुकसान से बचाने की कोशिश करते हैं। जब शुभ देवता अप्रसन्न होते हैं, तो अन्य देवताओं को लोगों को नुकसान पहुँचाने का अवसर मिलता है। इसलिए, वे देवताओं को संतुष्ट करने के लिए शराब, सूअर,

मुर्गियाँ आदि से उनकी पूजा करते हैं। वे देवताओं से संबंधित कई भूतों की भी पूजा करते हैं। 'मिरू या मिरि' मिसिङ् के मुख्य पुरोहित होता है। पुरोहित दैवीय शक्तियों से देवताओं से संवाद करता है और दुर्भाग्य का कारण बताता है। ऐसा माना जाता है कि अगर लोग मिबू की सलाह के अनुसार पूजा करके देवताओं को संतुष्ट कर सकें तो वे सभी बुराइयों से सुरक्षित रहते हैं।

वे हर साल अपने मृत पूर्वजों की पूजा भी करते हैं। मृत पूर्वज परलोक में रहते हुए अपने पोते-पोतियों की रक्षा करते हैं। जब वे असंतुष्ट होते हैं या अपने पोते-पोतियों से कुछ चाहते हैं तो घर में बुखार के रूप में दिखाई देता है। तब उसका उचित प्रबंध करने पर मृत पूर्वज संतुष्ट हो जाते हैं। इसलिए मृत पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए प्रतिवर्ष उनकी पूजा की जाती है।

वे मृतकों को नहलाकर नए कपड़े पहनाते हैं, 'नगा ढारी' (बाँस की चटाई) से लपेटते हैं और बक्से में डालकर लगभग पाँच फुट जमीन खोदकर दफनाते हैं। मृत्यु के तीन दिन बाद शुद्धि और एक महीने बाद 'दङ्गांग' (दशकर्म) क्रिया करते है। लेकिन कुछ परिवारों में 'दङ्गांग' अपनी सुविधा के अनुसार भी निश्चित करने पर छूट है।

धर्म से जुड़े तलंग-उई और डबूर-उयू जैसी धार्मिक पूजाएँ भी हैं। डबूर-उयू (डबूर-पूजा) 'ज्येष्ठ' महीने की 15 तारीख को किया जाता है। दूसरी ओर, अन्य पूजाओं की कोई निश्चित तारीख नहीं है। आवश्यकतानुसार ही ये पूजाएँ होती हैं। धार्मिक रीति-रिवाजों में दबूर उयू या दबूर पूजा गाँव के अपशकुन दूर करने के लिए की जाती है। इसमें गाँव के सभी लोग सामूहिक रूप से भाग लेने की अनुमति नहीं होती। व्यक्ति विशेष को ही अवसर मिलता है। इसी तरह बाहरी लोगों का भी प्रवेश वर्जित होता है। अनजाने में कोई प्रवेश करता है तो दबूर उयू या दबूर पूजा ख़त्म होने तक वहीं रुकना होता है, नहीं तो दण्ड के तौर पर अपना कुछ सामान छोड़कर जाने की परम्परा है। जो दबूर उयू या दबूर पूजा का मांगलिक कार्य समाप्त होने के पश्चात् ही ले जाने का अनुमति रहती है। ऐसी मान्यता है कि दबूर उयू या दबूर पूजा के समय अवधि में अगर कोई गाँव में प्रवेश करता है तो अपवित्र होता है।

अर्थनीति :

मिसिङ् की अर्थनीति मूलत: कृषि पर आधारित है। वे मैदानों की ओर आने से पहले उनकी कृषि-पद्धति झूम पद्धति ही थी। इसमें बैलों का उपयोग नहीं होता था। कुदाल, चाकू, फावड़ा, कुल्हाड़ी आदि ही उनके कृषि कार्य के औजार थे। इस तरह अर्थनीति के स्वावलंबन में कई व्यवस्थाएँ शामिल है।

रौग्सेंग:

मिसिङ् महिलाएँ घर के कामों में सक्रिय रहती हैं। घर के काम के अलावा भी पुरुष के समान ही खेत के कार्यों में भी सहयोग करती हैं। खेत में वे कचरे हटाना, अनावश्यक घासों को हटाना आदि के साथ-साथ कुदाल चलाने का काम भी करती हैं। इस व्यस्तता के बीच अवसर निकालकर मिसिङ् महिलाएँ किसी स्थान विशेष पर स्वयं ही जंगल काटकर, कुदाल से मिट्टी की जुताई करके स्वकीय रूप से खेती करना नहीं भूलती है। इस तरह स्वकीय रूप से की गयी खेती को 'रौग्सेंग आरौग' कहा जाता है। इस तरह अलग से वे सरसों, तंबाकू, लहसुन आदि की खेती करती है। मिसिङ् महिलाएँ 'रौग्सेंग आरौग' की उत्पादन से अपनी जरूरतों के सूत, आभूषण, बर्तन, वेशभूषा आदि खुद ही खरीद लेती हैं। सामान खरीदने के लिए मिसिङ् महिलाएँ पुरुषों पर आश्रित नहीं रहती। मिसिङ् महिलाओं की आय के तीन प्रधान आधारों में से 'रौग्सेंग आरौग' एक है। अन्य दो हैं पशु पालन और बुनाई-कला।

पशु पालन :

पशु पालन मिसिङ् लोक-जीवन की प्राचीन परम्परा है। मिसिङ् परिवार कृषि-कार्यों के साथ-साथ पशु पालन भी करता है। उसके पशु पालन करने के तीन उद्देश्य होते हैं - पहला, वे माँस-माछली के बैगर किसी प्रकार का धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान नहीं कर पाते। माँस-मछली, ख़ास तौर पर माँस उनके धार्मिक कार्य के लिए अपरिहार्य है। इसके अलावा, दपान-तौपान, पो:राग आदि की तरह सामाजिक उत्सवों में भी माँस की आवश्यकता होती है। दूसरी ओर, मेहमान को खिलाने के लिए भी माँस की जरूरत है। आत्मीय-स्वजन को सूअर मार कर खिला पाना मिसिङ् समाज में गौरव का विषय मानते हैं। इसी लिए हर मिसिङ् परिवार में परम्परागत तौर पर पशु-पालन करते आए हैं।

दूसरा, मुर्गा, सूअर, बकरी आदि बिक्री करके मिसिङ् महिलाएँ अपनी जरूरत के खर्च निकल लेती हैं। इसमें ध्यान देने की बात यह है कि मिसिङ् समाज में कृषि-कार्य के लिए पाले गए बैल-भैंस, घोड़ा, हाथी के अलावा अन्य पालतू जानवरों की देखभाल का दायित्व पुरुष नहीं महिलाएँ ही लेती हैं। सूअर या मुर्गे का माँस हर परिवार के धार्मिक अनुष्ठान में अपरिहार्य होने पर भी मुर्गा या सूअर पालन में पुरुषों की भूमिका नहीं होती।

तीसरा, कृषि-कार्य सम्पादन के लिए वे बैल-भैंस पालन करते हैं। कुछ परिवार बैल-भैंस के अलावा हाथी भी पालते हैं। हाथी मिसिङ् समाज में धनाढ्यता की पहचान है। पर अब धीरे-धीरे इस अवधारणा का अवसान हुआ है।

बुनाई-कला :

मिसिङ् महिलाएं बुनाई-कला में कितनी प्रतिभाशाली हैं इसका पता परंपरागत मिसिङ् वेशभूषा से ही चलता है। इनके द्वारा तैयार किए गए कपड़े इनकी रुचि, सौन्दर्य-चेतना और शिल्प प्रतिभा का परिचय है। कपड़ों में अपनी हृदय की कविताएँ बुन सकती हैं, सुमधुर सप्न, वास्तवता की पृथ्वी को सजीव और वांग्मय कर सकती हैं। वे भिन्न रंगों के समाहार से कपड़ों में जीवन प्रदान करती हैं। इनके बुनाई-कला की प्रतिभा एकक और अद्वितीय है। इस परंपरा को वे प्राचीन काल से ही संजोए रखा है, जो मिसिङ् जनसमुदाय को प्रदान करती आयी हैं कलात्मक अस्तित्व की पहचान।

खेत से सिर पर लकड़ी का बोझ, पीठ पर बच्चा और हाथ में तकली संचालित करती हुई दोपहर या संध्या घर वापसी से ही अनुमान किया जा सकता है कि मिसिङ् महिलाओं में बुनाई-कला के प्रति निष्ठा कितनी है। पहले मिसिङ् कपास की खेती करते थे। ख़ास तौर पर मिसिङ् महिलाएँ 'रौग्सेंग' (उपार्जन हेतु एकक रूप से किया हुआ खेत) के रूप में कपास की खेती करती थीं। कपास से प्राप्त सूत से वे हर तरह के आवश्यक कपड़ें तैयार कर लेती थीं। सर्दियों में देर रात तक बुजुर्ग महिलाएँ चौपाल के पास बैठकर 'पो:पी' (बड़े आकृति की तकली विशेष) संचालित करके 'गादु अन्न मनाम' (जिम कपड़ों के लिए सूत कटाई कार्य) प्रथा प्रचलन थी। आजकल कपास की खेती नहीं होती और सूत कटाई की प्रथा भी लुप्त होने लगी है। फिर भी कुछ-कुछ परिवारों की महिलाएँ बाजार से कपास खरीदते हुए भी जिम कपड़ा बुनती है।

'गादू' मिसिङ् महिलाओं की महत्वपूर्ण सृष्टि है। सर्दियों में परिवार के लोग सोते वक्त लिया जानेवाला सूत का नरम और मुलायम गर्म कपड़ा है। इसे असमियाभाषी 'मिरिजिम' कहते हैं। असल में यह गर्म कपड़ा ही नहीं मिसिङ् संस्कृति का भी प्रतीक भी है। पहले प्रत्येक शादी में दूल्हा–दुल्हन को एक 'गादू' देने का नियम था। शादी में गादू नहीं दे पानेवाले परिवार को समाज में आलोचना होती थी। इस दृष्टि से यह सामाजिक प्रतिष्ठा का भी साधन था।

अतीत में विवाहयोग्य मिसिङ् लड़कियों का बुनाई-कला में पारंगत होना प्रथम और प्रमुख शर्त थी। बुनाई-कला न आनेवाली लड़की का विवाह संभव नहीं होता था। इस लिए हर मिसिङ् लड़की बुनाई-कला में प्रतिभाशाली होती थी। बुनाई-कला न आने के कारण शर्म के मारे 'उराल मारी' (ओखर-मूसल) पीठ में बांध कर नदी में छलांग लगाकर 'पेतुकारी:' (शिशुमार) होने की लोक-कथाएँ मिसिङ् समाज में प्रचलित है।

परंपरागत बुनाई पद्धति में मिसिङ् महिलाएँ करघा का प्रयोग नहीं करती थी। एक तरफ दो खंभा गाड़ कर उसमें टेढ़ा करके मजबूत तीलि दे कर उसमें से सूतों को खींचते हुए अपनी कमर में चमड़े की पेटी जैसे कपड़े का गाँठ बांधकर अपने दोनों पैर फैलाते हुए समानता रखकर कपड़ा बुनती थी। उस समय बुनाई में आमतौर पर कपास से निकला हुआ 'नामौग अन्न' (धागा) का उपयोग होता था। आजकल 'नामौग अन्न' के स्थान कारखानाओं के सूत ने ले लिया है। अतीत में प्रयोग किए हुए औजारों में से 'यापा', 'ताऔ', 'केबू: तालि:', 'बे:लोंग', 'गुबंग', 'तानंगे' आदि प्रधान थे। मिसिङ् लोग असमियाभाषी लोगों के संपर्क में आने के बाद उनकी परंपरागत बुनाई-पद्धति में इसके कुछ उपकरण संयोजित कर लिया है। फलस्वरूप, मिसिङ् महिलाएँ करघे का उपयोग करने लगी और इससे जुड़ा हुआ औजार भी अपना लिया है। इस लिए ब' चुंगा, नाचनि, शलि, माकों, राँच, राँच भरोवा आदि औजारों के नाम असमिया भाषा में ही है।

पहले मिसिङ् महिलाएँ पुरुष के लिए 'उगन-गालुग' (धोति-कमीज) बुनती थी। पुरुष लोग 'गनरो उगन' (एक प्रकार की धोति) और 'तबग गालुग' (एक प्रकार की कमीज) पहनते थे। इसे मिसिङ् महिलाएँ तैयार करती थी। शादी में दूल्हा 'यामबो उगन' (धोति विशेष) और दुल्हन 'यामने गालुग' (ब्लाउज विशेष) पहनती थी। इसके अलावा दूल्हा 'मिबू गालुग' (कमीज विशेष) पहनता है। ये मिसिङ् महिलाओं की कलात्मक प्रतिभा की सृष्टि है। बर्तमान काल में भी 'मिबू गालुग' का प्रचलन भरपूर है। 'दुमोर' (पगड़ी बांधने में इस्तेमाल किए जाने वाला कपड़ा विशेष) भी वे बुनती थी। 'रि:बि-गासेंग' और 'आलि-आ:ये लृगांग' के बीच गहन संपर्क है। असमिया बिहू गीत में जिस तरह गमछा का उल्लेख पाया जाता है, इसी तरह 'ऐ-नि:तम' में भी गूँथा हुआ है मिसिङ् लड़कियों की 'रि:बि गासेंग' की बातें। वर्तमान समय में 'रि:बि गासेंग' की उपयोगिता सभी जनसमुदायों के बीच बढ़ता हुआ देखा जा सकता है। केवल यहीं नहीं मिसिङ् महिलाओं के द्वारा बुनी गई 'तापुम गासर' (एरी शॉल) सभी जनसमूदायों के लिए भी प्रिय है।

मिसिङ् महिलाओं के कपड़ों में से 'केब्बुंग' या 'मबुंग एगे-गासर', 'गेरो', 'बेका', 'निसेग' या 'केगरेग' आदि प्रधान हैं। 'गेरो' आम तौर पर पुत्रवती महिलाएँ ही उपयोग करती हैं। उनके कपड़ों में फूलों के पैर्टन के लिए 'मिमांग' (पैर्टन्स) का उपयोग करती हैं।

वे कपड़ों पर हर प्रकार के रंगों का उपयोग करती हैं, फिर भी लाल, काला और हरे रंगों की प्रधानता देखने को मिलता है। आजकल रंग-बिरगें सूतों की सहज उपलब्धता होने से पहले मिसिङ् महिलाएँ पेड़ों की छाल से तरह-तरह के रंग प्रस्तुत कर लेती थीं।

वर्तमान कुछ मिसिङ् महिलाएं बुनाई-कला को जीविका का साधन के रूप में लेती हुई दिखाई दे रहा है। फलस्वरूप परम्परागत चित्रों को विभिन्न आधुनिक डिजाईनों में और विभिन्न आकारों से बाजार में सुलभ किया जा रहा है। इस समीक्षा से स्पष्ट होता है कि मिसिङ् व्यवस्थित समाज, संस्कृति और अर्थनीति से समृद्ध जनजाति है। □□

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. कागयूंग, भ्रिगुमुनी, मिसिङ् संस्कृतिर आलेख्य, लयार्स बुक स्टाल, पानबाजार, गुवाहाटी-01, संशोधित और परिवर्धित संस्करण, 1989
2. दोले, बसंत कुमार, मिसिङ् समाज-संस्कृतिर समीक्षा, चन्द्र प्रकाश, पानबाजार, गुवाहाटी-01, प्रथम संस्करण, 2008
3. पेगु, पवित्र कुमार, मिसिङ् समाज-संस्कृतिर रेङणि, कौस्तुभ प्रकाशन, डिब्रूगढ़-786003, प्रथम संस्करण, 2011
4. पेगु, जुवेल, मिसिङ् समाज संस्कृति और परंपरा, रङानै प्रकाशन, लखिमपुर-787052, प्रथम संस्करण, 2016
5. टाइद, टाबु, एकुकि निबन्ध, प्रथम संस्करण, धेमाजि, मिसिङ आगोम केबाङ, 2007
6. पायेङ, यतीन, मिसिङ भाषा-साहित्यर चमु समीक्षा, प्रथम संस्करण, शब्द प्रकाश, जोरहाट, 2011
7. पाटर, पद्म (संपा.), जनजाति समाज-संस्कृति, तृतीय संस्करण, रिङचाङ पब्लिकेसन, गुवाहाटी, 2013
8. हाजरिका, सूर्यकान्त (संपा.), संस्कृति संचयन, चतुर्थ संस्करण, वाणी मन्दिर, गुवाहाटी, 2009
9. पेगु, गणेश, मिसिङ जनसंस्कृतिर आँहे-आँहे, प्रथम संस्करण. नव कलिता, धेमाजि, 2004
10. पेगु, पवित्र कुमार, मिसिङ समाज-संस्कृतिर रेङणि, प्रथम संस्करण, कौस्तुभ प्रकाशन, डिब्रुगढ़, 2011
11. भूया, पूर्णानन्द, मिसिङ संस्कृतिर जिलिङणि, प्रथम संस्करण, लयार्स बुक स्टाल, गुवाहाटी, 2011
12. होचेइन, इचमाइल, मिसिङ समाज-इतिहास और संस्कृतिर ऐतिह्य, प्रथम संस्करण, ज्योति प्रकाशन, गुवाहाटी, 2015
13. हाकाचाम, उपेन राभा, असमर जनजातीय संस्कृति, संशोधित और परिवर्धित संस्करण, वाणी मन्दिर, गुवाहाटी, 2010
14. पांगिग, कालीनाथ, क्रमविवर्तित मिसिंग भाषार लिपि – एटी चमु इतिहास, द्वितीय संस्करण, लोंगिंग कोम्युनिकेशन, गोगामुख, 2021

****

विद्यालयों में लोकपरंपरा आधारित पर्यावरण शिक्षा

विकाश शर्मा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
(नेहू) शिलांग
दूरभाष - 8133040135

प्रस्तावना :

मानव सभ्यता की जड़ें प्रकृति से जुड़ी हुई हैं। भारतीय दर्शन में सृष्टि और प्रकृति को ईश्वर का अंग माना गया है और मनुष्य उसकी संरक्षक भूमिका में दृष्टिगोचर होता है। भारत की लोकपरंपराएँ - त्योहार, लोकगीत, लोककथाएँ, पूजा-पद्धतियाँ, कृषि-संस्कार सभी पर्यावरण अनुकूल जीवन के प्रतीक हैं। किंतु औद्योगीकरण और आधुनिक उपभोक्तावादी जीवनशैली के विस्तार ने मनुष्य को प्रकृति से दूर कर दिया है। इसीलिए आज विद्यालय शिक्षा में लोकपरंपरा आधारित पर्यावरण शिक्षा का समावेश अत्यंत आवश्यक है, जिससे बच्चों में न केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित हो बल्कि प्रकृति के प्रति सम्मान, संवेदनशीलता और संरक्षण की भावना आए।

भारतीय दृष्टिकोण और प्रकृति संबंध :

भारत में प्राचीनकाल से पर्यावरण चिंतन की समृद्ध परंपरा रही है। भारतीय जीवन दर्शन में 'प्रकृति' को माता की संज्ञा दी गई है। अथर्ववेद में पृथ्वी को "माता" कहा गया है। "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" अर्थात् : 'पृथ्वी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ'। वेदों और उपनिषदों में वृक्ष, पर्वत, नदियाँ, अग्नि, वायु, जल, सूर्य सभी को देवतुल्य मानते हुए उनकी पूजा की गई है। ईशावास्य उपनिषद् मे कहा गया है "ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्" सृष्टि में जो भी गतिमान वस्तुएँ हैं और जो भी स्थिर हैं, वे सभी ईश्वर का ही अंश हैं और ईश्वर ही सबमें वास करते हैं। उपभोग नहीं, बल्कि नियोजित और संयमित उपयोग भारतीय पर्यावरण दृष्टिकोण की मूल भावना है। भगवद्गीता में श्री कृष्ण कहते हैं – "भूमिर-आपो 'नालो वायुः खं मनो बुद्धिर एव च, अहंकार इतियाम् मे भिन्न प्रकृति अष्टधा" अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार - ये मेरी भौतिक शक्ति के आठ घटक हैं। इस प्रकार प्रारंभिक भारतीय चिन्तन ही मनुष्य और प्रकृति के सहअस्तित्व की ओर संकेत करता है। विद्यालयों में छात्र यदि इस सांस्कृतिक धरोहर को जानेंगे, तो वे छोटे से स्तर पर भी पर्यावरण की रक्षा हेतु प्रेरित होंगे।

लोकपरंपराओं की पर्यावरणीय भूमिका :

भारतीय लोकजीवन में लोकगीत, लोककथा, लोकनृत्य और रीति-रिवाज प्रकृति के साथ मनुष्य के सहजीवी संबंध को पीढ़ियों तक संप्रेषित करते आए हैं; यही कारण है कि वृक्ष, नदियाँ, पर्वत, वर्षा, सूर्य-चंद्र, पशु-पक्षी सभी लोक स्मृति में सजीव पात्र हैं और संरक्षण–भावना का नैसर्गिक स्रोत हैं। उत्तर भारत में वट-सावित्री, पीपल-पूजन, तुलसी–विवाह, हरियाली तीज, नवरात्र में नव-पौध स्थापना जैसे संस्कार वृक्षों और औषधीय वनस्पतियों के प्रति श्रद्धा के साथ प्रकृति के संरक्षण का व्यवहार सिखाते हैं, तो किसान जीवन के चक्र में बीज बोने की रस्में, नवधान्य-पूजन, मकर संक्रांति, अन्नकूट, ओणम जैसे उत्सव जैव-

विविधता, बीज संरक्षण और सामुदायिक श्रम-सहयोग की भावना मजबूत करते हैं। लोकगीतों में मेघों का आह्वान, नदी-तटों का महिमामंडन, खेतों-खलिहानों की स्तुति, गौ-वन-जल के महत्त्व की सहज शिक्षा मिलती है। राजस्थानी मांड, भोजपुरी और मगही गीत, बंगाल के भाटियाली (नाविकों के) और बाँउल परंपरा, महाराष्ट्र के ओवी, कर्नाटक के जनपद गीत सबमें जल-मिट्टी-वन से जुड़ी आजीविका और संरक्षण की संस्कृति गूँजती है। लोककथाएँ - जैसे पेड़-देवता, नाग-देवता, जंगल-देवता, ग्राम-देवता, पवित्र उपवन, देवस्थान, सारण/सरई जैसे संरक्षित वृक्ष-समूहों की परंपरा को वैधता देती हैं, जिससे समुदाय शिकार निषेध, वनों की कटाई पर संयम और जलस्रोतों की रक्षा को नैतिक दायित्व मानता है।

पूर्वोत्तर भारत में यह प्रकृति पूजा और भी सजीव रूप में दिखाई देती है - मेघालय के खासी-जयंतिया समुदायों की "सेक्रेड ग्रोव्स" (पवित्र वनों) की परंपरा, मिजोरम के मिजो, नागालैंड के नागा, अरुणाचल के अपातानी, गालो, निशि आदि जनजातीय समाजों के कृषि-अनुष्ठान, जल-स्रोतों और मछलियों की प्रजनन अवधि में सामुदायिक निषेध, बाँस–आधारित जीवन–शैली और सामुदायिक वन-प्रबंधन पर्यावरण शासन के लोकसूत्र हैं। असम का बिहू विशेषकर रोंगाली बिहू (बैसाख के आसपास) कृषि वर्ष चक्र की शुरुआत, बैलों का स्नान एवं श्रृंगार, सामुदायिक नृत्य–संगीत और पारंपरिक व्यंजन के साथ खेत-किसानी, पशुधन और ऋतु–परिवर्तन के प्रति कृतज्ञता का उत्सव है; काती (काति) बिहू में तुलसी-चौरा पर दीया जलाना, धान के खेतों में 'एकाशा' (बाँस–पत्तों के दीप–बाँसुर) लगाना बुरे कीट रोग से फसल की रक्षा के प्रतीकात्मक सामुदायिक अनुष्ठान हैं, जबकि भोगाली (माघ) बिहू फसल कटाई, बाँस–लकड़ी के 'मेझी' दहन और सामूहिक भोज से प्रकृति प्रदत्त समृद्धि के उत्सव का रूप है। मणिपुर के उमंगल/लई-हरोबा में झील-वेटलैंड और देव-वन की स्मृति, त्रिपुरा के गारिया पूजा में कृषि समृद्धि का आह्वान, अरुणाचल के म्योक/सोलींग/लोसार में पवित्र वनस्पतियों और जल स्रोतों का सम्मान - ये सभी जनजातीय ज्ञान-परंपराएँ पर्यावरणीय संतुलन के व्यवहारिक नियमों जैसे ऋतु अनुसार संसाधन उपयोग, सामुदायिक निषेध, पवित्र उपवन, बीज विविधता, बाँस काष्ठ के पुनर्चक्रण को लोकरीति में गूंथकर नवपीढ़ियों तक पहुँचाती हैं। इस तरह भारतीय लोकपरंपरा, लोककथा और लोकगीत केवल सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ नहीं, बल्कि प्रकृति संरक्षण की जीवित पाठशालाएँ हैं, जो त्योहार-अनुष्ठान, नृत्य- संगीत और कथा-कहावत के माध्यम से पर्यावरण नैतिकता, सहजीविता और सामुदायिक उत्तरदायित्व का दीर्घकालिक संस्कार करती हैं।

इतिहास में पर्यावरण संरक्षण के उदाहरण :

उत्तराखंड का चिपको आंदोलन (1970 के दशक) इसका सशक्त उदाहरण है, जहाँ ग्रामीणों विशेषकर महिलाओं ने पेड़ों की कटाई रोकने के लिए उन्हें गले लगाकर अपना विरोध दर्ज कराया। यह केवल एक आंदोलन नहीं था, बल्कि उस परंपरा का प्रतीक था जिसमें प्रकृति को माता और पेड़ों को जीवनदाता माना जाता है। इसी प्रकार, राजस्थान का बिश्नोई समाज सदियों से पेड़ों और जीव-जंतुओं की रक्षा को अपने धार्मिक आचार का हिस्सा मानता आया है। 1730 ई. के खेजड़ली बलिदान में अमृतादेवी और सैकड़ों महिलाओं ने खेजड़ी के पेड़ों की रक्षा हेतु अपने प्राणों की आहुति दी। इन घटनाओं ने यह सिद्ध किया कि लोकसमुदाय का प्रकृति से जुड़ाव केवल आर्थिक आवश्यकता तक सीमित नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी गहरा है। मौर्य सम्राट अशोक के शिलालेख भी इस परंपरा के साक्षी हैं, जिनमें वन्य जीवों की रक्षा, औषधीय पौधों के संरक्षण और प्राकृतिक संतुलन बनाए रखने के आदेश स्पष्ट रूप से अंकित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में पर्यावरणीय चेतना केवल लोकजीवन तक सीमित नहीं थी, बल्कि शासक वर्ग ने भी इसे शासन और नीतियों का हिस्सा बनाया।

विद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा की वर्तमान स्थिति :

आज के समय में विद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा को एक विषय के रूप में पढ़ाया जाता है। बच्चों को वायु, जल, मृदा प्रदूषण, जैवविविधता, जलवायु परिवर्तन और पर्यावरण संरक्षण जैसे मुद्दों की जानकारी दी जाती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति (एनईपी 2020) में भी इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि शिक्षा केवल ज्ञानार्जन तक सीमित न होकर सतत विकास, वैश्विक नागरिकता और परंपरागत ज्ञान को भी विद्यार्थियों तक पहुँचाए। यह एक सकारात्मक कदम है, जो यह दर्शाता है कि शिक्षा-नीति निर्माता भी मानते हैं कि पर्यावरण संरक्षण केवल वैज्ञानिक या प्रशासनिक विषय नहीं,

बल्कि मानवीय और सांस्कृतिक सरोकारों से जुड़ा हुआ है।

व्यवहारिक स्तर पर देखा जाए तो विद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा का स्वरूप अब भी काफी हद तक पुस्तकीय और परीक्षा केंद्रित बना हुआ है। अधिकांश शिक्षक तथ्यों, परिभाषाओं और आंकड़ों के माध्यम से इसे पढ़ाते हैं, जिससे विद्यार्थी इसे केवल अंक प्राप्त करने का साधन समझते हैं। वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि पर्यावरण शिक्षा को विद्यार्थियों के जीवन व्यवहार और लोकसंस्कृति से जोड़कर प्रस्तुत किया जाए। जैसे स्थानीय पेड़-पौधों की पहचान कराना, आसपास के तालाबों या sacred groves (पवित्र उपवन) का भ्रमण कराना, लोककथाओं और परंपराओं में निहित प्रकृति संरक्षण के मूल्यों को कक्षा में चर्चा का विषय बनाना। इस तरह की जीवंत और अनुभवात्मक शिक्षा न केवल ज्ञान देती है, बल्कि बच्चों में प्रकृति के प्रति गहरी संवेदना और जिम्मेदारी का भाव भी जगाती है।

विद्यालयों में लोकपरंपरा आधारित पर्यावरण शिक्षा का क्रियान्वयन :

विद्यालयों में लोकपरंपरा आधारित पर्यावरण शिक्षा को प्रभावी बनाने के लिए बहुआयामी प्रयासों की आवश्यकता है। इसे केवल पुस्तक तक सीमित न रखकर जीवन और संस्कृति से जोड़ना चाहिए। पाठ्यक्रम में वेद-उपनिषद, पुराणों और लोककथाओं से पर्यावरण संबंधित प्रसंगों को शामिल किया जा सकता है, जैसे पृथ्वी सूक्त या नदियों और वनों की उपासना से जुड़े उल्लेख। इसी प्रकार क्षेत्रीय लोकगीतों, रीति-रिवाजों और पर्यावरणीय कहावतों को भी पढ़ाया जाए, ताकि विद्यार्थी अपनी संस्कृति में निहित प्रकृति-चेतना से परिचित हों। विद्यालय प्रांगण में 'तुलसी वाटिका', 'नक्षत्र वन' या 'पवित्र वृक्षों का उद्यान' स्थापित कर बच्चों को पौधों का सांस्कृतिक और वैज्ञानिक महत्व समझाया जा सकता है। साथ ही पारंपरिक जैविक खेती के प्रयोग कराए जाएँ और त्यौहारों के आयोजन में पर्यावरण अनुकूल सामग्री जैसे मिट्टी के गणेश, पत्तल और गोबर के दीये उपयोग में लाए जाएँ।

इन प्रयासों में सामुदायिक सहयोग भी अत्यंत आवश्यक है। विद्यालय यदि स्थानीय पंचायत या ग्रामीण समाज के साथ मिलकर तालाबों और नदियों की सफाई व संरक्षण में भाग ले, तो बच्चों में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना जागृत होगी। गाँव के बुजुर्ग और परंपराओं के ज्ञाता जब विद्यार्थियों को लोककथाओं और रीति-रिवाजों का पर्यावरणीय महत्व समझाएँगे, तो शिक्षा और भी जीवंत बन जाएगी। इसी के साथ मूल्य शिक्षा का समावेश भी महत्त्वपूर्ण है। छात्रों को यह बताया जाना चाहिए कि पर्यावरण संरक्षण केवल वैज्ञानिक या आर्थिक आवश्यकता नहीं है, बल्कि यह हमारा सांस्कृतिक कर्तव्य और आध्यात्मिक जिम्मेदारी भी है। महात्मा गाँधी की 'सादगी और प्रकृति संग जीवन' की अवधारणा इस संदर्भ में विद्यार्थियों के लिए प्रेरणास्रोत बन सकती है। इस प्रकार विद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा व्यवहारिक, सांस्कृतिक और मूल्यपरक बनकर विद्यार्थियों के जीवन का स्थायी अंग बन सकती है।

सामाजिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य :

भारतीय समाज में पर्यावरण संरक्षण केवल वैज्ञानिक या व्यवहारिक दृष्टि तक सीमित नहीं रहा, बल्कि यह हमारे सामाजिक और धार्मिक जीवन का अभिन्न हिस्सा रहा है। हिंदू धर्म में वृक्षों की पूजा, नदियों की आरती और सूर्य-नमस्कार जैसी परंपराएँ इस बात का प्रमाण हैं कि प्रकृति को देवत्व का दर्जा देकर उसकी रक्षा को जीवन का अनिवार्य अंग माना गया। तुलसी, पीपल, बरगद और बेल जैसे वृक्षों को पवित्र मानकर उनकी पूजा करना केवल आस्था का विषय नहीं, बल्कि पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखने का एक व्यवहारिक उपाय भी है। इसी प्रकार नदियों की आरती और पर्व-त्योहारों में जल को पवित्र मानने की परंपरा हमें यह सिखाती है कि जलस्रोत केवल भौतिक संसाधन नहीं, बल्कि जीवन का आधार हैं।

जैन धर्म ने 'अहिंसा' के सिद्धांत को केवल जीव-जंतुओं तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि तक को सम्मान देने की शिक्षा दी। यह दृष्टि आधुनिक समय की 'ईको-एथिक्स' या पारिस्थितिक नैतिकता का प्राचीन रूप कही जा सकती है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म का 'मध्यम मार्ग' हमें संयम और संतुलन की सीख देता है। बुद्ध के जीवन से जुड़ी कथाओं में वृक्षों और वनों का विशेष महत्व है। ज्ञान प्राप्ति भी उन्होंने बोधिवृक्ष के नीचे ही की थी। बौद्ध दर्शन करुणा और दया का संदेश देते हुए जीव-जंतुओं और प्रकृति के साथ संतुलित संबंध बनाने की प्रेरणा देता है।

भारत की सूफी और संत परंपरा ने भी सृष्टि और सर्जक को एक मानते हुए प्रकृति प्रेम की अभिव्यक्ति की है। संत कवियों ने नदियों, पर्वतों, चाँद-सूरज और हवाओं को ईश्वर की कृति मानकर उनके प्रति कृतज्ञता और सम्मान व्यक्त किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि चाहे वह किसी भी धर्म या परंपरा की बात हो, सभी ने पर्यावरण को केवल उपयोग की वस्तु न मानकर जीवन का अविभाज्य हिस्सा माना है। विद्यालयों में यदि इन सभी धार्मिक और सामाजिक दृष्टियों को समन्वित रूप से पढ़ाया जाए, तो बच्चों के मन में एक व्यापक, समावेशी और सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक पर्यावरण चेतना विकसित होगी, जो उन्हें जिम्मेदार और संवेदनशील नागरिक बनने की दिशा में मार्गदर्शन करेगी।

वर्तमान चुनौतियाँ और अवसर :

आज की दुनिया में पर्यावरण संबंधी चुनौतियाँ अत्यधिक जटिल और गंभीर रूप ले चुकी हैं। तेज़ी से बढ़ते शहरीकरण ने प्राकृतिक संसाधनों पर भारी दबाव डाला है, जिसके कारण हरियाली घटती जा रही है और प्रदूषण लगातार बढ़ रहा है। प्लास्टिक प्रदूषण हमारे दैनिक जीवन का बड़ा संकट बन चुका है - नदियों, समुद्रों और यहाँ तक कि भोजन की श्रृंखला में भी प्लास्टिक पहुँच चुका है। इसी तरह, वनों की अंधाधुंध कटाई न केवल जैव-विविधता को संकट में डाल रही है, बल्कि जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग जैसी समस्याओं को और गहरा कर रही है। आज के बच्चे इन सभी चुनौतियों से अनजान नहीं हैं; वे अपने परिवेश में प्रदूषण, कचरे और मौसम के असंतुलन का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। ऐसे में पर्यावरण शिक्षा केवल पुस्तकीय जानकारी नहीं, बल्कि उनकी जीवन रक्षा और भविष्य की सुरक्षा का प्रश्न बन जाती है।

इन चुनौतियों के बीच हमारे पास अवसर भी मौजूद हैं, और ये अवसर हमारी लोकपरंपराओं और सांस्कृतिक धरोहर से जुड़े हुए हैं। भारतीय परंपराओं में हमेशा से जैव-विविधता की रक्षा, पुनर्चक्रण की पद्धति और सरल-संतोषी जीवनशैली पर जोर दिया गया है। उदाहरण के लिए, गाँवों में पत्तल और दोने का उपयोग पर्यावरण-अनुकूल जीवनशैली का संकेत था; पुरानी वस्तुओं का पुन: प्रयोग या पुनर्चक्रण स्वाभाविक था; वहीं, त्योहारों में मिट्टी और प्राकृतिक वस्तुओं से निर्मित सामग्री का उपयोग पर्यावरणीय संतुलन को बनाए रखता था। यदि विद्यालय इन परंपरागत ज्ञान और जीवन-पद्धतियों को आधुनिक विज्ञान और तकनीक के साथ जोड़कर बच्चों को पढ़ाएँ, तो नई पीढ़ी केवल वैज्ञानिक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि व्यवहारिक और नैतिक दृष्टि से भी सक्षम पर्यावरण-संरक्षक बन सकती है। यही वह अवसर है जिससे हम भविष्य की पीढ़ियों में पर्यावरण चेतना को गहराई और स्थायित्व प्रदान कर सकते हैं।

निष्कर्ष :

विद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा केवल एक अतिरिक्त पाठ्य विषय नहीं, बल्कि हमारे शैक्षिक, सांस्कृतिक और नैतिक परिदृश्य को पुनरुत्थान करने का अवसर है। प्राचीन वेद-उपनिषदों, पुराणों और लोककथाओं से लेकर चिपको आंदोलन, अमृता देवी के बलिदान और अशोक के शिलालेखों तक जो पर्यावरणीय संदेश मिलते हैं, वे इस बात का प्रमाण हैं कि हमारी संस्कृति में प्रकृति के प्रति सम्मान गहरा और बहुआयामी रहा है। आज के शहरीकरण, प्लास्टिक और जलवायु संकट के युग में इन लोकसूत्रों को आधुनिक विज्ञान, प्रयोगात्मक शिक्षण और नीति निर्देशों (जैसे NEP 2020 द्वारा प्रस्तावित सतत विकास एवं परंपरागत ज्ञान का सम्मिलन) के साथ जोड़ना अनिवार्य है। इसका मतलब यह है कि पाठ्यक्रम में वेद-उपनिषद और क्षेत्रीय लोकगीतों के पर्यावरण प्रसंग शामिल हों, विद्यालय प्रांगण में तुलसी वाटिका, पवित्र वृक्ष उद्यान और पारंपरिक जैविक खेती के प्रायोगिक प्रोजेक्ट हों, त्यौहारों में पर्यावरण-संवेदनशील परम्परागत सामग्री का उपयोग हो और साथ ही स्थानीय बुज़ुर्गों, पंचायतों की सक्रिय भागीदारी से सामुदायिक शिक्षण सुनिश्चित किया जाए। मूल्य शिक्षा - अहिंसा, सादगी, आत्म नियमन और प्रकृति के प्रति आध्यात्मिक उत्तरदायित्व को पाठ्यक्रम का अंग बनाकर बच्चों में स्थायी व्यवहारिक परिवर्तन लाया जा सकता है। शिक्षक प्रशिक्षण, परियोजना आधारित आकलन और छात्र नेतृत्व वाले संरक्षण कार्यक्रम (तालाब स्वच्छता, वृक्ष-अपनत्व, बीज बैंक इत्यादि) इसे केवल सिद्धांत नहीं रहने देंगे, बल्कि जीवन-शैली बना देंगे। यदि हम इन सब उपायों को ठोस नीतिगत समर्थन और स्थानीय स्तर पर सामुदायिक सहयोग के साथ लागू करें तो विद्यालय केवल ज्ञान के भंडार नहीं रहकर पर्यावरण के सजीव संरक्षक तैयार करने वाले संस्थान बन जाएंगे; यही हमारी आने वाली पीढ़ियों की प्रकृति के साथ सहअस्तित्व और सतत भविष्य की वास्तविक गारंटी है। □□

रियांग लोकगीतों में प्रकृति वर्णन

आरती रियांग
शोधार्थी, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
सूर्यमणि नगर, अगरतला त्रिपुरा
दूरभाष - 7085927904

शोध सार

भारतीय लोकसाहित्य केवल मनोरंजन का माध्यम न होकर समाज की सांस्कृतिक चेतना, जीवन-दृष्टि और प्रकृति के साथ उसके संबंध का प्रामाणिक दर्पण है। विशेष रूप से जनजातीय लोकगीतों में प्रकृति और मानव का संबंध सहजीवी एवं आत्मीय रूप में उभरता है। त्रिपुरा की प्रमुख जनजातियों में से एक रियांग जनजाति के लोकगीत इस दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। इन गीतों में प्रकृति का स्वरूप केवल सौंदर्य-वर्णन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह जीवन का आधार, भावनाओं का संवाहक और सांस्कृतिक मूल्यों का स्तंभ है।

रियांग समाज का जीवन पर्वतीय अंचलों, वनों और नदियों से गहराई से जुड़ा हुआ है, और यह निकटता उनके गीतों में सहजता से प्रकट होती है। लोरी, विवाह-गीत, प्रेमगीत अथवा शोकगीत—सभी में प्रकृति के प्रतीक प्रमुख अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं। धरती 'माँ', नदी 'जीवन' और वृक्ष 'शांति' के रूप में लोकगीतों में मानवीकृत होकर समाज के आत्मीय सदस्य का स्थान ग्रहण करते हैं। साथ ही, इन गीतों में निहित पर्यावरणीय चेतना प्रकृति के दोहन के बजाय उसके प्रति आदर एवं सह-अस्तित्व पर बल देती है।

इस प्रकार, रियांग जनजाति के लोकगीत केवल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि एक जीवन-दर्शन और पर्यावरण-संरक्षण हेतु प्रेरक स्रोत हैं। इनका अध्ययन रियांग समाज की सांस्कृतिक धरोहर तथा प्रकृति-आधारित दार्शनिक दृष्टिकोण को समझने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

बीज शब्द – भारतीय लोकसाहित्य, जनजातीय लोकगीत, रियांग जनजाति, प्रकृति-दर्शन, सांस्कृतिक चेतना, पर्यावरणीय दृष्टिकोण।

भूमिका:

भारतीय लोकसाहित्य सदियों से न केवल मनोरंजन का माध्यम रहा है, बल्कि यह समाज की सांस्कृतिक चेतना, जीवन-दृष्टि और प्रकृति से उसके संबंध का भी सशक्त दस्तावेज रहा है। विशेषकर जनजातीय लोकगीतों में प्रकृति और मानव का संबंध केवल बाह्य नहीं, अपितु अंतरंग, आत्मीय और सहजीवी होता है। त्रिपुरा की प्रमुख जनजातियों में से एक रियांग जनजाति के लोकगीत इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि इन गीतों में प्रकृति का चित्रण केवल सौंदर्य-वर्णन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह जीवन का आधार, भावनाओं का माध्यम और संस्कृति का मूल भी बन जाती है।

रियांग समाज का जीवन पर्वतीय अंचलों, वनों और नदियों से गहराई से जुड़ा

हुआ है और यह जुड़ाव उनके गीतों में सहजता से प्रकट होता है। माँ की लोरी हो या विवाह का उल्लास, प्रेम का इज़हार हो या मृत्यु का शोक हर भाव प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। रियांग लोकगीतों में धरती 'माँ' है, नदी 'जीवन' है और वृक्ष 'शांति' का प्रतीक हैं। इन गीतों में प्रकृति का मानवीकरण कर उसे परिवार का सदस्य बना दिया गया है।

यह लोकसाहित्य पर्यावरणीय चेतना का भी वाहक है। रियांग समाज प्रकृति का दोहन नहीं करता, बल्कि उसे आदरपूर्वक स्वीकार करता है। उनके लोकगीतों में यह विचार बार-बार उभरता है कि मानव और प्रकृति एक-दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार रियांग लोकगीत केवल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि एक जीवंत दार्शनिक दृष्टिकोण हैं, जो आज के समय में पर्यावरण-संरक्षण के लिए भी प्रेरणा बन सकते हैं।

अतः रियांग जनजाति के लोकगीतों का अध्ययन न केवल उनकी सांस्कृतिक समृद्धि को जानने का माध्यम है, बल्कि यह प्रकृति से जुड़े उनके आत्मीय संबंधों को समझने की दिशा में भी एक सार्थक प्रयास है।

रियांग जनजाति का परिचय:

रियांग त्रिपुरा की एक प्रमुख जनजाति है। भारत के त्रिपुरा, मिज़ोरम और असम राज्यों के अतिरिक्त यह जनजाति पड़ोसी देश बांग्लादेश में भी निवास करती है। इस जनजाति की अपनी विशिष्ट संस्कृति, परंपरा और समाज व्यवस्था है, जो इन जनजातियों का पहचान है। 2011 के भारतीय जनगणना के अनुसार त्रिपुरा में यह दूसरी सबसे बड़ी जनजाति समुदाय है, जिसे 'ब्रू' भी कहा जाता है। यह समुदाय मुख्य रूप से त्रिपुरा के दक्षिणी और उत्तरी क्षेत्रों में निवास करता है। वर्त्तमान में रियांग समुदाय त्रिपुरा राज्य के छह अलग-अलग जिलों में निवास करता है।

1. उत्तर त्रिपुरा और उनाकोटी जिले के अंतर्गत: कुमारघाट, गौरनगर, दसदा, पेचार्थल, लालजुरी, दामछेरा, जम्पुई हिल, युवराजनगर, कदमतला आदि।

2. धलाई और खोवाई जिलों के अंतर्गत: आमबासा, मनु, छवमनु, दुमबुरनगर, गंगानगर, सालेमा, दुर्गा चौमुनी, तुलसिखर, मुंगियाकामी।

3. दक्षिण त्रिपुरा और गोमती जिलों के अंतर्गत: मातारबारी, अमरपुर, करबुक, ओम्पी, बोकाफा, जुलाईबाड़ी, ऋष्यमुख, भरतचंद्र नगर, काकराबन, राजनगर आदि प्रमुख उपजिलों में रियांग जनजाति बहुत संख्या में पाई जाती है।[1]

रियांग जनजाति की उत्पत्ति को लेकर कई पारंपरिक मान्यताएँ हैं। आज भी जो मौखिक परंपरा में पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही है। लोक मान्यता के अनुसार रियांग जनजाति पूर्व में ऊपरी बर्मा (जो अब म्यांमार है) की पहाड़ी क्षेत्रों में निवास करती है और वहाँ से वे त्रिपुरा के दक्षिणी हिस्से में आयी। इसी तरह, कुछ लोग रियांग असम और मिज़ोरम के रास्ते त्रिपुरा में आए।

रियांग लोकगीतों में प्रकृति का स्वरूप:

रियांग लोकगीतों में जंगल, पेड़-पौधे, नदी-नाले, पर्वत-पहाड़ तथा उनमें निवास करने वाले जीव-जंतुओं का अत्यंत जीवंत और सजीव वर्णन मिलता है। रियांग लोकगीत अनेक प्रकार के होते हैं, लेकिन इन सभी गीतों में प्रकृति की उपस्थिति अनिवार्य रूप से दिखाई देती है।

माँ की लोरी से लेकर मृत्यु के शोक गीतों तक में प्रकृति का भावपूर्ण चित्रण मिलता है। लोरी गाते समय माँ कभी जंगली पशु-पक्षियों से विनम्र प्रार्थना करती हुई दिखाई देती है, तो कभी उनके भय का उल्लेख कर शिशु को सुलाने का प्रयास करती है। इससे स्पष्ट होता है कि रियांग जनजाति अपने जीवन के हर क्षण में प्रकृति से गहराई से जुड़ी हुई है।

इन लोकगीतों में बाघ, हाथी, हिरन और चिड़ियों जैसे वन्य जीव प्रतीकात्मक रूप में प्रयुक्त होते हैं। प्रेम और विरह गीतों में पक्षियों की आवाजों को मानवीय भावनाओं से जोड़कर प्रस्तुत किया जाता है। इसी प्रकार, रियांग समुदाय के कृषि गीतों, श्रम गीतों, उपदेशात्मक गीतों तथा पर्व-त्योहारों से संबंधित गीतों में भी प्रकृति का संवेदनशील और सौंदर्यपूर्ण वर्णन मिलता है।

उदाहरण के रूप में एक रियांग वात्सल्य लोकगीत प्रस्तुत है-

मूल रियांग भाषा में:

होई ले...ले..होई...

कुफा ले वायेंग ओ थू नाई सेई
आमिंग बू खाखाओ मा तावाई
फाई दी कुफा लोलांग हा नो
ताओलिंग ताखे फाई दी
थुनाई सेई कुफा लोलांग हा ले

हिंदी अनुदित:

मेरा मुन्ना अब सोने वाला है,
ओ निंदिया रानी,
अब आ भी जाओ मेरे लाडले की आँखों में।
हे! बाघ जरा,
शांत रहो तुम
मेरे लाल को परेशान न करो,
मेरे लाल सोने वाला है।
ओ चिड़िया रानी
तुम तंग न करो
मेरा मुन्ना सो रहा है

इस लोकगीत में देखा जा सकता है कि माँ किस तरह बाघ, चिड़िया जैसे पशु-पक्षियों से शांत रहने तथा तंग न करने का निवेदन करती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो ये जीव-जंतु उनके साथ ही रहते हों और उनसे उनका संवाद होता हो। इन सभी बातों से यह स्पष्ट होता है कि रियांग समाज का जीवन सहजीवन की भावना पर आधारित है। वे प्रकृति का शोषण नहीं करते, बल्कि उसका संतुलित उपयोग करना जानते हैं। प्रकृति उनके लिए पूज्य और जीवन का अभिन्न अंग है।

प्रकृति का मानवीकरण:

रियांग लोकगीतों में प्रकृति का मानवीकरण अत्यंत भावपूर्ण ढंग से किया गया है। इन लोकगीतों में प्रकृति के विविध तत्त्वों का सजीव और जीवंत चित्रण मिलता है। रियांग समुदाय अपने लोकगीतों और लोककथाओं में पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों को मानवीय गुणों से युक्त कर प्रस्तुत करता है। धरती और नदियों को 'माता' के रूप में पूजा जाता है, जो अन्न, फल और जीवन प्रदान करती हैं। नदियों की धारा को जीवन की ऊर्जा का स्रोत माना गया है। यह मानवीकरण केवल काव्यात्मक सौंदर्य तक सीमित नहीं है, बल्कि यह समुदाय की गहन आस्था और प्रकृति के प्रति सम्मान का प्रतीक भी है।

उदाहरण के लिए हिंदी अनुदित रियांग लोकगीत-

'धरती माँ से वरदान लिया है,
गंगा जी का आशीष लिया है।
स्नेह की सौगातें लेकर,
हम आए बाराती तेरे द्वार।'

यह एक विवाह गीत है, जिसे उस समय गाया जाता है जब बाराती, दुल्हन के घर बारात लेकर पहुँचते हैं। इस गीत में धरती को 'माँ' माना गया है, जो वरदान देती है और गंगा को 'जी' कहकर आशीर्वाद देने वाली के रूप में चित्रित कर इनका मानवीकरण किया गया है।

सामाजिक जीवन में प्रकृति की भूमिका:

प्रकृति केवल वातावरण का हिस्सा नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन और रीति-रिवाजों से भी जुड़ी है। प्रेम गीतों में नदी, बगीचे और फूलों का उल्लेख सौंदर्य तथा प्रेम के प्रतीक के रूप में किया जाता है। प्रेमी और प्रेमिका अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का सहारा लेते हैं। वे न केवल अपने प्रेम का इजहार करते हैं, बल्कि अपने दुःख और पीड़ा को भी प्रकृति के माध्यम से प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिए :-

1. 'हे प्रिय,
मैं झूमखेत का 'वास्लौग'[2] बन जाऊं
बस तुम्हें निहारता रहूँ।
तू 'दुम्सौग'[3] बन जाना,
बस मेरे आस-पास ही रहना।'

2. 'रानिया खूमचाव बिस्लाई[4] ,
उसे पहन लूँ, खुद को सजाना चाहूँ
पर कैसे सजाऊँ...?
जुड़े में खोंसूँ
तो कानों तक आ लिपटे,
कानों में पहनूँ

तो कंधों तक निकले।'

विवाह, मृत्यु, कृषि और पर्व गीतों में नदी, धरती, जीव-जंतु, पहाड़, वृक्ष और वर्षा जैसे प्राकृतिक तत्वों का बार-बार उल्लेख मिलता है। इन गीतों में प्रकृति केवल वातावरण का हिस्सा भर नहीं है, बल्कि जीवन की साथी और प्रेरणा- शक्ति के रूप में उपस्थित होती है। विवाह गीतों में कपास, पत्थर, जल जैसे तत्वों का चित्रण सौंदर्य तथा नई सृष्टि का प्रतीक बनता है, जबकि मृत्यु गीतों में धरती को शरण देने वाली माँ के रूप में स्मरण किया जाता है। कृषि गीतों में वर्षा और उपजाऊ धरती को जीवनदायिनी माना गया है, वहीं पर्व गीतों में पहाड़ और वृक्षों के साथ सामूहिक उल्लास का चित्रण होता है। इस प्रकार रियांग समाज के लोकगीतों में प्रकृति का मानवीकरण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जो यह दर्शाता है कि उनके जीवन, संस्कृति और आस्था की जड़ें गहराई से प्रकृति में निहित हैं। इस सन्दर्भ में एक लोकगीत का अंश उद्धृत किया जा सकता है-

'मैंने तो पर्वत-पहाड़ सभी नाप डाला,
जंगल-जंगल, गाँव-गाँव घूम आया।
पूरा देश छान मारा मैंने,
पर कोई महान वृक्ष न पाया...
न ऐसा वृक्ष, जिसकी छाया में
जीवन को शांति मिले...'

निष्कर्ष:

रियांग जनजाति के लोकगीतों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि उनका संपूर्ण जीवन प्रकृति से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। उनके गीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं हैं, बल्कि वे समाज, संस्कृति और जीवन-दर्शन के दर्पण भी हैं। माँ की लोरी से लेकर विवाह गीतों, कृषि गीतों और मृत्यु गीतों तक हर प्रसंग में प्रकृति की उपस्थिति अनिवार्य रूप से दिखाई देती है। पशु-पक्षी, वृक्ष, नदियाँ, पर्वत, वर्षा आदि सभी तत्व लोकगीतों में मानवीकरण के रूप में प्रकट होते हैं और जीवन के साथी, रक्षक तथा प्रेरक के रूप में चित्रित किए जाते हैं।

इन गीतों से यह भी ज्ञात होता है कि रियांग समुदाय प्रकृति का शोषण नहीं करता, बल्कि उसके साथ सहजीवन का संबंध स्थापित करता है। उनके लिए प्रकृति केवल भौतिक संसाधन नहीं, बल्कि आस्था, विश्वास और जीवन का आधार है। यही कारण है कि उनके प्रेम, विरह, श्रम, उल्लास और शोक सभी भाव प्रकृति के माध्यम से व्यक्त होते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि रियांग जनजाति की सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक व्यवस्था और जीवन मूल्यों में प्रकृति केंद्रीय स्थान रखती है। लोकगीतों में प्रकृति का यह भावपूर्ण चित्रण न केवल उनकी संवेदनशीलता को दर्शाता है, बल्कि यह भी प्रमाणित करता है कि वे प्रकृति-प्रेमी और पर्यावरण-संरक्षक समाज रहे हैं। इस दृष्टि से रियांग लोकगीत केवल लोक साहित्य ही नहीं, बल्कि पर्यावरणीय चेतना के भी महत्वपूर्ण स्रोत माने जा सकते हैं। □□

संदर्भ -

1. हिस्ट्री ऑफ द रियांग (ब्रू), लिंकन रियांग , पृष्ठ-12
2. वास्लौग = नरम बाँस का छोर
3. दुम्सौग = जंगली लता
4. रानिया खूमचाव बिस्लाई = एक प्रकार का लाल फूल

सहायक ग्रंथ:

1. हिस्ट्री ऑफ़ द रियांग (ब्रू), डॉ. लिंकन रियांग, पहला संस्करण-2021,EBH पब्लिसर्स (इंडिया) पानबाजार गुवाहाटी, असम

गीत संकलन में सहायक गायिका:

1. अहिलाबती रियांग, उम्र: 58, गाँव: उरीछेरा,उत्तर त्रिपुरा।
2. ललिता रियांग, उम्र: 62, गाँव: उरीछेरा,उत्तर त्रिपुरा।

****

पूर्वोत्तर के पर्व त्यौहारों में पर्यावरण चेतना

नम्रता बनिक
शोधार्थी, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
सूर्यमणि नगर, अगरतला त्रिपुरा
दूरभाष - 7085654008

शोध सार:

भारत की सांस्कृतिक परंपराओं में पर्व-त्यौहारों का विशेष स्थान है। ये उत्सव न केवल धार्मिक या सामाजिक समारोह होते हैं, बल्कि इनमें प्रकृति के प्रति आदर, संवेदनशीलता और संरक्षण का भाव भी अंतर्निहित होता है। इस शोध में भारतीय पर्व-त्यौहारों में अंतर्निहित प्रकृति चेतना का अध्ययन किया गया है, जिसमें यह देखा गया कि किस प्रकार विभिन्न उत्सव ऋतुचक्र, कृषि जीवन, जल, वृक्ष, पशु-पक्षियों आदि से जुड़े हुए हैं। इस शोध में पूर्वोत्तर के जनजातियों के प्रकृति प्रेम और प्रकृति संरक्षण के संदेश देते हुए पर्व-त्यौहार मनाने के बारे में बात की गई है और साथ ही आधुनिक समय में इन पर्वों के कारण हो रहे पर्यावरणीय दुष्प्रभावों का विश्लेषण कर उनके समाधान भी सुझाए गए हैं। यह शोध इस बात पर बल देता है कि यदि पर्वों के पारंपरिक प्रकृति-सम्वेदनशील स्वरूप को पुनर्जीवित किया जाए, तो वे पर्यावरण-संरक्षण के सशक्त माध्यम बन सकते हैं।

बीज शब्द: पर्व-त्यौहार, प्रकृति चेतना, पर्यावरण संरक्षण, भारतीय संस्कृति, पारंपरिक मूल्य, वृक्ष पूजा, जल संरक्षण, सांस्कृतिक अध्ययन, पूर्वोत्तर

भूमिका

"जहाँ त्यौहार उल्लास का प्रतीक है, वहीं वे प्रकृति से जुड़ने का माध्यम भी है।"

भारत की संस्कृति में पर्व-त्योहारों का विशेष स्थान है। ये उत्सव न केवल सामाजिक और धार्मिक जीवन का हिस्सा हैं, बल्कि पर्यावरणीय चेतना को बढ़ावा देने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह शोध पत्र भारतीय पर्व-त्योहारों में समाहित पारिस्थितिक ज्ञान, परंपरागत पर्यावरण संरक्षण पद्धतियों तथा आधुनिक समय में उनकी प्रासंगिकता का विश्लेषण करता है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यदि इन परंपराओं को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझा और अपनाया जाए, तो वे पर्यावरण संरक्षण के लिए एक प्रभावी साधन बन सकती हैं। भारतीय समाज में प्रकृति और संस्कृति का संबंध अत्यंत गहरा है। यहाँ के पर्व-त्योहार ऋतु परिवर्तन, कृषि चक्र और प्राकृतिक संसाधनों से जुड़े होते हैं। हर पर्व में कोई न कोई ऐसा तत्व होता है जो प्राकृतिक संसाधनों की महत्ता, संरक्षण और सतत विकास को प्रोत्साहित करता है। वर्तमान में जब पर्यावरण संकट बढ़ता जा रहा है, तब पारंपरिक त्योहारों की पर्यावरणीय चेतना को समझना और पुनः

जीवित करना आवश्यक हो गया है।

भारत में पर्यावरण अनुकूल त्यौहार प्रकृति, कृषि और टिकाऊ परंपराओं का जश्न मनाते हैं जिनका पालन पीढ़ियों से किया जाता रहा है। ये त्यौहार पर्यावरण के साथ सामंजस्य पर केंद्रित हैं और समुदायों और प्रकृति के बीच गहरे संबंध को दर्शाते हैं। फसल उत्सवों से लेकर आदिवासी उत्सवों तक, हर आयोजन सांस्कृतिक मूल्यों को दर्शाता है और साथ ही पर्यावरण के प्रति जागरूक प्रथाओं को बढ़ावा देता है। इनमें से कई प्रसिद्ध भारतीय पर्यावरण उत्सवों में फसलों, नदियों और जंगलों का सम्मान करने वाले अनुष्ठान शामिल हैं। ये परंपराएँ न केवल जैव विविधता का समर्थन करती हैं, बल्कि स्थायी जीवन को भी प्रोत्साहित करती हैं। इन अनोखे भारतीय उत्सवों की खोज हमें यह समझने में मदद करती है कि कैसे पारंपरिक प्रथाएँ आज भी भारत के त्यौहारों के कैलेंडर को आकार दे रही हैं।

प्रकृति प्रेम की चर्चा हो और पूर्वोत्तर की चर्चा न हो ऐसा होना मुश्किल है। पूर्वोत्तर भारत की जनजातियाँ, जिनका प्रकृति के साथ गहरा संबंध है। अपने पर्यावरण को बचाए रखने और प्रकृति का सम्मान करने के लिए विभिन्न प्रथाओं और त्योहारों का पालन करती हैं। उनकी जीवनशैली, कला और सामाजिक संरचना प्रकृति से अविभाज्य है, जिससे उनमें प्रकृति के प्रति गहरा सम्मान और प्रेम देखा जाता है।

पूर्वोत्तर भारत के कई त्यौहार, जैसे मेघालय का शाद सुक म्यंसिएम, असम का बिहू उत्सव और मणिपुर का वांगला महोत्सव, प्रकृति के प्रति प्रेम और आभार व्यक्त करते हैं और फसल की भरपूर पैदावार या बुवाई के अंत का प्रतीक हैं। इन त्योहारों में प्रकृति के तत्वों जैसे पेड़, फसल, पशु और सूर्य को सम्मान दिया जाता है। पारंपरिक नृत्य, संगीत, अनुष्ठान और प्रसाद वितरण के माध्यम से लोग अपनी संस्कृति, आध्यात्मिकता और प्रकृति के साथ सामंजस्य को दर्शाते हैं।

पूर्वोत्तर भारत के त्यौहार प्रकृति के साथ गहरे जुड़ाव का प्रतीक हैं, जो प्रकृति की पूजा, अच्छी फसल के लिए आभार और सामुदायिक बंधनों को मजबूत करने पर केंद्रित हैं। इनमें से कई त्योहार फसल चक्र, बदलते मौसम और नव वर्ष के आगमन से जुड़े हैं और नृत्य, संगीत, पारंपरिक लोकगीत और स्थानीय व्यंजनों के साथ मनाए जाते हैं।

पर्व-त्योहारों में पर्यावरण चेतना को और अधिक विस्तृत रूप में समझने के लिए हम प्रमुख पूर्वोत्तर भारतीय त्योहारों का विश्लेषण करेंगे और देखेंगे कि इनमें किस प्रकार प्राकृतिक तत्वों और पर्यावरण संरक्षण की झलक मिलती है। नीचे विस्तार से वर्णन किया गया है:

1. हॉर्नबिल महोत्सव:

हॉर्नबिल महोत्सव, नागालैंड में हर दिसंबर आयोजित होने वाले सबसे प्रसिद्ध भारतीय पर्यावरण उत्सवों में से एक है। यह नृत्य, संगीत और हस्तशिल्प के माध्यम से नागा जनजातियों की समृद्ध परंपराओं का जश्न मनाता है। वर्ष 2000 में पहली बार आयोजित इस महोत्सव का उद्देश्य आदिवासी विरासत को संरक्षित और बढ़ावा देना है। नागा लोककथाओं में सांस्कृतिक महत्व के प्रतीक हॉर्नबिल पक्षी के नाम पर, यह आयोजन पर्यावरण-अनुकूल परंपराओं को प्रदर्शित करके सतत पर्यटन को बढ़ावा देता है। आदिवासी समुदाय अपने रीति-रिवाजों को आगंतुकों के साथ साझा करने के लिए एकजुट होते हैं, जो इसे भारत के त्योहार कैलेंडर में एक महत्वपूर्ण आयोजन बनाता है। यह स्वदेशी प्रथाओं के संरक्षण और नागा जनजातियों के बीच एकता को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

2. ड्री महोत्सव:

ड्री उत्सव अरुणाचल प्रदेश में अपातानी जनजाति द्वारा मनाया जाने वाला एक अनोखा भारतीय त्योहार है। यह जुलाई में मनाया जाता है और तामु, हरनियांग और मेती जैसे कृषि देवताओं को समर्पित है। इस त्योहार का उद्देश्य कीटों और प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षा प्राप्त करके अच्छी फसल सुनिश्चित करना है। ऐतिहासिक रूप से, यह अपातानी लोगों के बीच एक छोटा सा अनुष्ठान था, लेकिन अब यह एक बड़े सामुदायिक उत्सव का रूप ले चुका है। पारंपरिक नृत्य, प्रार्थनाएँ और भोज इस आयोजन का एक अभिन्न अंग हैं। यह टिकाऊ खेती पर प्रकाश डालता है और भारत के त्योहारों के

कैलेंडर में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3. मकर संक्रांति:

मकर संक्रांति को प्रकृति का त्योहार कहा जाता है। यह फसल की कटाई के कृषि संबंधी महत्व का प्रतीक है। इस दिन लोग मकर संक्रांति की भावना का जश्न मनाने के लिए पतंग उड़ाते हैं। मकर संक्रांति, जिसे भारत के विभिन्न भागों में उत्तरायण के नाम से भी जाना जाता है। खेती-किसानी का यह त्योहार भारतीय संस्कृति में कृषि के महत्व को दर्शाता है। मकर संक्रांति का दिन सूर्य के मकर राशि में प्रवेश का प्रतीक है। इस शुभ दिन को भारत के विभिन्न भागों में लोग अलग-अलग नामों से मनाते हैं। तमिलनाडु में पोंगल, असम में माघ बिहू, उत्तरी राज्यों में खिचड़ी और केरल में मकर विलक्कू के नाम से मनाया जाता है। यह त्यौहार, जिसे अक्सर 'फसल कटाई का त्यौहार' कहा जाता है, एक उत्साहपूर्ण अवसर है जो कृषि की प्रचुरता और भरपूर फसल के मौसम का प्रतीक है।

4. गरिया पूजा:

त्रिपुरा के जमातिया जनजाति द्वारा मनाया जाने वाला यह त्यौहार पूर्ण रूप से प्रकृति का त्यौहार है। यह जमातिया जनजाति का पारंपरिक पर्व है। यह बैसाख महीने में सात दिन और सात रात तक मनाया जाता है। पशुधन और धन के देवता भगवान गरिया के प्रतीक एक बाँस के खंभे की फूलों और मालाओं से पूजा की जाती है। गरिया पूजा की मुख्य सामग्री हैं सूती धागा, चावल, ऋचा, मुर्गी का बच्चा, चावल की बीयर, मिट्टी के बर्तन, अंडे और शराब। सदियों पुरानी परंपरा के अनुसार, देवता के सामने मुर्गे की बलि दी जाती है और भगवान का आशीर्वाद पाने के लिए मुर्गे का खून उनके सामने छिड़का जाता है। गरिया कार्निवल का प्रदर्शन ओचाई निर्देशों के अनुसार होता है। त्योहार के दौरान किसी को भी प्रतीकात्मक भगवान गरिया की छाया को पार करने की अनुमति नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से उन्हें नाराज़ होने का डर है। गरिया महोत्सव के दौरान बच्चे भगवान गरिया को प्रसन्न करने के लिए उनके सामने ढोल बजाते हैं, गाते हैं और नृत्य करते हैं।

5. बीजू:

बीजू त्योहार त्रिपुरा का एक महत्वपूर्ण कृषि और सांस्कृतिक उत्सव है जो चाकमा समुदाय द्वारा बंगाली नव वर्ष के दिन मनाया जाता है। यह एक तीन दिवसीय उत्सव है, जिसमें पहले दिन फूल बीजू (घरों को फूलों से सजाना और नदी में पुष्पांजलि अर्पित करना), दूसरे दिन मूल बीजू (सामाजिक मिलन और पारंपरिक नृत्य) और तीसरे दिन गोज्जेपोज्जे दिन (बुजुर्गों का सम्मान) शामिल होते हैं। बीजू त्योहार का उद्देश्य अच्छी फसल के लिए धरती का आभार व्यक्त करना और चाकमा संस्कृति को बढ़ावा देना है। बिजु का चाकमा लोगों के बीच झूम खेती की प्रथा से गहरा संबंध है और माना जाता है कि इसकी उत्पत्ति कृषि के मौसम की पहली बारिश के बाद भरपूर फसल के लिए धरती को प्रसन्न करने के त्योहार के रूप में हुई थी।

6. लोसूंग:

लोसूंग सिक्किम में मनाया जाने वाला एक त्योहार है जो फसल कटाई के मौसम के अंत का प्रतीक है। यह साल का वह समय होता है जब राज्य के किसान साल भर खेतों में कड़ी मेहनत के बाद अच्छी फसल का जश्न मनाते हैं और आराम करते हैं। लोसूंग त्योहार का सबसे बड़ा आकर्षण चाम नृत्य है। बौद्ध भिक्षुओं द्वारा किया जाने वाला यह नृत्य एक रंगारंग उत्सव है जहाँ भिक्षु रंग-बिरंगे पोशाक पहनते हैं और लोक संगीत की मधुर धुनों पर नृत्य करते हैं। संगीत, नृत्य और स्वादिष्ट भोजन इसे पूर्वोत्तर भारत के सबसे अद्भुत त्योहारों में से एक बनाते हैं।

7 .वांगला महोत्सव:

वांगला उत्सव, जिसे 100 ढोलों का उत्सव भी कहा जाता है, मेघालय के गारो समुदाय द्वारा मनाया जाता है। यह नवंबर के दूसरे सप्ताह में मनाया जाने वाला एक फसल उत्सव है जहाँ वे सूर्य देवता सालजोंग की पूजा करते हैं। यह वह समय होता है जब ग्रामीण अपने खेतों में कड़ी मेहनत करने और अच्छी फसल प्राप्त करने के बाद आराम और आनंद लेते हैं। पहले दिन गाँव के मुखिया के घर पर 'रागुला' समारोह आयोजित किया जाता है। दूसरे दिन 'कक्कत'

नामक उत्सव होता है जब लोग रंग-बिरंगे परिधान, पंखों वाले सिर के आभूषण पहनकर ढोल की धुन पर नृत्य करते हैं। यह उत्सव पर्यटकों को मेघालय के गारो जनजाति के जीवन की गहरी जानकारी देता है और वर्षों से उनकी समृद्ध संस्कृति और विरासत को संरक्षित करने में मदद करता रहा है।

8. संगाई महोत्सव:

हर साल नवंबर में आयोजित होने वाला संगाई महोत्सव सबसे बड़े सांस्कृतिक समारोहों में से एक है, जिसका नाम लुप्तप्राय संगाई हिरण के नाम पर रखा गया है, जिसे "नृत्य करने वाला हिरण" भी कहा जाता है, जो केवल लोकतक झील के तैरते घास के मैदानों में पाया जाता है। यह महोत्सव राज्य की पारिस्थितिक विरासत को प्रदर्शित करने और उसकी रक्षा करने के लिए मनाया जाता है। यह महोत्सव इम्फाल, लोकतक झील और सांस्कृतिक परिसरों जैसे प्रमुख स्थलों पर मनाया जाता है। जहाँ पर्यटक सांस्कृतिक प्रदर्शनों और मार्शल आर्ट को देखने आते हैं, वहीं यह महोत्सव हज़ारों घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय पर्यटकों को आकर्षित करता है, जो लोकतक झील में नौका विहार और मणिपुरी व्यंजनों जैसे एरोम्बा, चाक-हाओ खीर (भूरा चावल), स्मोक्ड मछली और सिंगजू के व्यंजनों के भ्रमण जैसे मनोरंजक अनुभव प्रदान करते हैं। संगाई महोत्सव स्थानीय खेल आयोजनों और समुदाय की जीवनशैली पर भी प्रकाश डालता है, जो न केवल पर्यटन को बढ़ावा देता है बल्कि दुर्लभ संगाई हिरणों के संरक्षण के बारे में जागरूकता भी बढ़ाता है।

9. पावल कुट:

पावल कुट, जो आमतौर पर हर साल दिसंबर से जनवरी तक मनाया जाता है, फसल कटाई के बाद के त्योहारों या फसल के प्रति आभार व्यक्त करने वाले त्योहारों में से एक है। यह त्योहार दावतों और मिलजुल कर मनाए जाते हैं। यह उत्सव भरपूर फसल के लिए आभार व्यक्त करके, प्रकृति और ईश्वर को प्रचुरता के आशीर्वाद के लिए धन्यवाद देकर और सामुदायिक बंधनों को मज़बूत करने में मदद करके कटाई के मौसम के अंत का प्रतीक है। पावल कुट तीन प्रमुख मिज़ो त्योहारों में से एक है और यह एकजुटता का एक विशेष स्थान रखता है जो मिज़ो जीवन शैली को परिभाषित करता है। आगंतुक चेराव जैसे पारंपरिक नृत्य, एक प्रसिद्ध बाँस नृत्य प्रदर्शन, लोकगीत और स्थानीय खेलों के साथ-साथ मिज़ो आदिवासी परिधानों और रीति-रिवाजों का प्रदर्शन देख सकते हैं। सुहावने सर्दियों के मौसम में मनाया जाने वाला यह त्योहार एक मनमोहक सांस्कृतिक अनुभव है जहाँ लोग चावल के केक, चावल की बीयर और बाँस के अंकुर जैसे स्थानीय व्यंजनों का स्वाद ले सकते हैं, जिन्हें स्थानीय समुदायों के साथ मिलकर तैयार और साझा किया जाता है, और पारंपरिक उत्सवों में भाग लेते हैं।

10. फाल्कन महोत्सव:

प्रत्येक वर्ष दिसंबर के मध्य में असम के दीमा हसाओ जिले के उमरांगसो में फाल्कन महोत्सव आयोजित किया जाता है। यह दिवस अमूर फाल्कन (विश्व का सबसे लम्बी उड़ान भरने वाला प्रवासी पक्षी) के प्रवास और संरक्षण के बारे में जागरूकता फैलाने तथा दिमासा लोगों की परम्पराओं और संस्कृति को प्रदर्शित करने के लिए मनाया जाता है। यह तीन दिवसीय उत्सव मनमोहक दृश्यों और लुढ़कती पहाड़ियों के साथ-साथ गतिविधियों से भरपूर है, जो आगंतुकों को एक अलग ही अनुभव प्रदान करता है।

11. बोहाग बिहू:

असम में बोहाग बिहु के पर्व को बेहद उत्साह के साथ मनाया जाता है। यह त्योहार असम का अधिक महत्वपूर्ण पर्व माना जाता है। बिहु को सभी लोग जाति और धर्म को न देखकर एक साथ मनाते हैं। इस दिन फसल की कटाई की शुरुआत होती है और लोग ईश्वर का धन्यवाद करते हैं। बिहु के त्योहार को वसंत ऋतु के आगमन और नववर्ष की शुरुआत का प्रतीक माना जाता है।

परंपराओं में छिपी पर्यावरणीय समझ

हमारे त्यौहारों की पारंपरिक विधियाँ पर्यावरण के अनुकूल रही हैं। पहले घरों को गोबर, मिट्टी और फूलों से सजाया जाता था। दीयों में सरसों का तेल जलाया जाता था, जिससे वायु शुद्ध होती थी। थालियों में केले या साखू के पत्तों का उपयोग होता था। इन सभी क्रियाओं में प्रकृति के साथ

संतुलन बनाए रखने की सूक्ष्म भावना छिपी थी। होली में प्राकृतिक रंग का प्रयोग होता था। भगवान की मूर्तियां भी मिट्टी से बनती है जो पानी में जल्दी से घुल जाती है। कई जगह पूजा की सजावट आज भी बांस या लकड़ी से बनती है। दीपावली पर घरों की सफाई स्वच्छता का प्रतीक है।

बदलता स्वरूप और पर्यावरण को खतरा

त्योहारों के बदलते स्वरूप से पर्यावरण को काफी खतरा है मुख्य रूप से जल, वायु और ध्वनि प्रदूषण के रूप में पर्यावरण को हानि पहुंच रही है और अगर अभी संभाला न गया तो भविष्य में और परेशानियों का सामना करना निश्चित है। शहरीकरण और दिखावे के कारण इन त्योहारों का व्यावसायिक और फिल्मी रूप बढ़ रहा है, जिससे इनकी सादगी और प्राकृतिक संबंध कम हो रहा है। इस खतरे को कम करने के लिए पारंपरिक, पर्यावरण-अनुकूल तरीके अपनाना और पर्यावरण के प्रति जागरूकता बढ़ाना आवश्यक है।

दीपावली के दौरान पटाखों का शोर इतना तेज़ और असहनीय होता है कि इससे जुड़े स्वास्थ्य संबंधी खतरों पर गंभीरता से विचार करना ज़रूरी है। विभिन्न शहरों में उत्सव के बाद प्रतिमाओं के विसर्जन से खतरनाक जल प्रदूषण होता है, जिससे टनों मछलियाँ और कई जलीय जीव मारे जाते हैं। वो दिन गए जब मूर्तियाँ मिट्टी से बनाई जाती थीं, अब प्लास्टर ऑफ पेरिस और रासायनिक रंगों से मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। कभी सजावट की सामग्री भी बांस या लकड़ी हुआ करती थी पर आज प्लास्टिक सजावट और थर्मोकोल जैसे सामग्री अपघटनीय होते हैं, जो लंबे समय तक भूमि और जल को प्रदूषित करते हैं और और सजावट के लिए अधिक से अधिक लाइटों का उपयोग भी होता है जिससे बिजली की खपत भी होती है जो की ऊर्जा की संकट को बढ़ावा देता है।

दीपावली के दौरान पटाखों से उत्पन्न होने वाले उच्च स्तर के शोर के कारण शिशुओं और वृद्धों को बहुत कष्ट होता है। दीपावली पर ध्वनि प्रदूषण 69.7 डेसीबल से 88.3 डेसीबल के बीच होता है, जो निर्धारित सीमा 50 डेसीबल से कहीं अधिक है। महानगरों में यह स्तर खतरनाक रूप से उच्च होता है और 100 डेसीबल तक पहुँच सकता है। किसी भी उत्सव के दौरान उत्पन्न होने वाले कचरे का पर्यावरण पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

पर्यावरण के अनुकूल पर्व-त्योहारों की आवश्यकता:

आज आवश्यकता है कि हम अपनी परंपराओं को पर्यावरण संरक्षण से जोड़ें:

- इको-फ्रेंडली मूर्तियाँ और प्राकृतिक रंगों का उपयोग करें।
- मिट्टी के दीयों को प्राथमिकता दें, जिससे कुम्हारों को भी रोज़गार मिले और पर्यावरण भी सुरक्षित रहे।
- सामूहिक पूजा और विसर्जन की व्यवस्था करें, जिससे प्रदूषण कम हो।
- हर पर्व पर एक पौधा लगाएं, यह नई पीढ़ी को प्रकृति से जोड़ने का सुंदर माध्यम हो सकता है।
- प्लास्टिक और कृत्रिम सजावटी वस्तुओं से बचें और उनकी जगह पारंपरिक, जैविक सामग्री का उपयोग करें।

निष्कर्ष

पर्व-त्यौहार केवल आनंद और उत्सव का ही नहीं, बल्कि सामाजिक और नैतिक जिम्मेदारियों का भी प्रतीक होते हैं। यदि हम इन्हें पर्यावरण चेतना से जोड़ दें, तो ये न केवल हमारी संस्कृति को समृद्ध करेंगे, बल्कि प्रकृति को भी संरक्षित रखेंगे। आज जब पर्यावरण संकट गहराता जा रहा है, तब यह आवश्यक है कि हम अपने हर त्योहार "हरित पर्व" के रूप में मनाएं, ताकि वर्तमान और आने वाली पीढ़ियाँ एक सुरक्षित और स्वच्छ वातावरण में जीवन यापन कर सकें।

"पर्व मनाएं, पर्यावरण बचाएं!'' यह केवल एक नारा नहीं, बल्कि एक जागरूक जीवनशैली का प्रतीक बनना चाहिए। □□

सहायक ग्रंथ

1. डॉ. शशि शर्मा, डॉ. सुषमा देवी (1 जनवरी 2018), 'भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन, विद्यानिधि प्रकाशन', नई दिल्ली
2. भारत सरकार, वन और जलवायु मंत्रालय, पर्यावरण: जलवायु परिवर्तन विशेषांक, अंक- 68, मार्च 2017
3. विभिन्न अखबारों और न्यूज रिपोर्ट्स से एकत्रित आंकड़े
4. माली राम मीणा, 'भारतीय संस्कृति एवं पर्यावरण संरक्षण' इंस्पिरजर्नल्स, अंक - 04, सितंबर 2022

****

त्रिपुरी लोक साहित्य में पर्यावरण चेतना

रीता त्रिपुरा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
सूर्यमणि नगर, अगरतला त्रिपुरा
दूरभाष - 7629995253

शोध सार:

लोक संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग लोक साहित्य है। इतिहास के लंबे कालखंड को अपने भीतर संजोये हुए ये लोक साहित्य अपने समय के अलिखित सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दस्तावेज हैं। ये लोक संस्कृति के वाहक हैं। यानि मानव के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आदि सभी चेतनाओं का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप लोक साहित्य में समाहित रहता है, जिसमें हमारा संपूर्ण समाज व संस्कृति सहजता से दर्ज है।

त्रिपुरी लोक साहित्य और पर्यावरण का संबंध पूर्ण रूप से देखने को मिलता है। इससे बँचित रह कर कोई भी व्यक्ति अपनी दैनिक कार्य हो या कोई विशेष कार्य वह अपनी कार्य की पूर्ति नहीं कर सकता। पर्यवारण का संबंध हर उस वस्तु जीव-जन्तु प्रकृति से है जिसमें प्राण है।

पर्यावरण से संबंधित मनुष्य, पेड़-पौधे (नीम, आम, बेल, केले, चंदन, तुलसी, पीपल) जीव-जन्तु (गाय, मुर्गा) सूर्य, चंद्र, जल, पर्यावरण से संबंधित सभी वस्तुएं, खाद्य पदार्थ आदि हमें खासकर पूजा-पाठ में जरूरत होती हैं। जिसमें मनुष्य प्रकृति और पर्यावरण की पूजा करता है और स्वरूप रहने की कामना भी करता है। त्रिपुरी समुदाय सूर्यदेव, नदियों, वृक्षों, चंद्रदेव, तुलसी, वटवृक्ष, गाय आदि अनेक चीजों की पूजा सदियों से करता आ रहा है। जिसका सीधा संबंध हमारे पर्यावरण और पर्यावरण का धर्म से और धर्म का त्रिपुरी समूदायों की अलग-अलग संस्कृति और लोक आस्था से है जो कि मनुष्य की आस्था का प्रतीक है।

जनजातीय जीवन और पर्यावरण का अटूट संबंध है, जहाँ जनजातियाँ प्रकृति के साथ संतुलन बनाकर रहती हैं और पारंपरिक ज्ञान का उपयोग करके पर्यावरण संरक्षण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। उनके स्थायी जीवन, कृषि पद्धतियों और वनों व जल के प्रबंधन से पारिस्थितिक संतुलन बना रहता है।

बीज शब्द: त्रिपुरी, संस्कृति, लोक-साहित्य, लोक-जन, प्रकृति, चेतना, संरक्षण।

यदि हम पर्यावरण को लोक साहित्य से जोड़ने का प्रयत्न करेंगे तो स्पष्ट होगा की जिस लोक साहित्य को निकृष्ट एवं अशिष्ट का साहित्य कहकर नकारा जाता रहा है वह अपने आप में प्रकृति संरक्षण के लगभग हर पहलू को समेटे हुए और चेतना सम्पन्न है। इन साहित्यों में मानव व संस्कृति की विराटता में पेड़-पौधे, वन-सम्पत्ति, जीव-जन्तु, सूर्य, नदी इत्यादि सभी पूरे आन-बान से समाहित हैं।

त्रिपुरी लोक साहित्यों में प्रकृति अपने विविध रूप-रंगों में जीवन सहचरी के रूप में उभरती है, जिसके बिना सब राग-रंग, पर्व-त्योहार एवं उत्सव

अधूरे हैं। पर्यावरण की जैसे विलक्षण उपस्थिति त्रिपुरी लोक साहित्यों में निहित है, वह लोक जीवन की सूक्ष्म विज्ञान-बुद्धि व चेतना का ही परिणाम है। अगर कहा जाए कि त्रिपुरी संस्कृति का मूलाधार प्रकृति ही है तो अत्युक्ति न होगी। तभी तो लोक-जन के हृदय की उपज इन साहित्यों में नदी, पहाड़, जंगल, वृक्ष, फल-फूल, बाँस, सूर्य इत्यादि सभी तत्व समाहित हैं।

मूल आलेख :

त्रिपुरी लोक साहित्य त्रिपुरा राज्य की आदिवासी (त्रिपुरी समाज) का समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर का अहम हिस्सा है। त्रिपुरी जनजातियों का घनिष्ट संबंध को दर्शाता है, वे समाज के सामाजिक, आर्थिक प्रणाली और समाज की सामाजिक मूल्यों को भी प्रतिबिंबित करते हैं। यह साहित्य न केवल मनोरंजन का साधन है बल्की इनसे समाज की मान्यताओं, परंपराओं और जीवन के विभिन्न पहलुओं का भी परिचय मिलता है। त्रिपुरी लोक साहित्य में प्राचीन देवताओं, प्राकृतिक तत्वों और जीवन की चुनौतियों से जुड़े किस्से को भी दर्शाया गया है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी सुने जाते हैं। त्रिपुरी लोक साहित्य त्रिपुरी समुदाय की सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करने का कार्य करता है। यह साहित्य पीढ़ी दर पीढ़ी लोगों द्वारा एक दूसरे को सुनाया जाता है, जिसमें पारंपरिक मूल्यों, रीति-रिवाज और धार्मिक मान्यताएं यह जीवित रहती हैं। इन साहित्यों के माध्यम से लोग अपना इतिहास, पुरानी परंपराओं और धार्मिक विश्वासों को समझते हैं और उसे अपने आने वाली पीढ़ियों तक पहुंचाते हैं।

लोक साहित्य लोक जीवन के मूल्य, नैतिकता और आदर्श को समझने का एक प्रभावी तरीका होता है। त्रिपुरी समुदाय का लोक साहित्य अच्छाई और बुराई, सत्य और असत्य, देवी-देवताओं को दर्शाता है। त्रिपुरी लोक साहित्यों में प्रकृति के साथ मानवीय रिश्ते को भी दर्शाया गया है। जिनमे जंगल, नदियां, पहाड़ और जानवरों को पवित्र और महत्वपूर्ण रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन साहित्यों के माध्यम से प्रकृति के साथ संतुलन बनाए रखने और उसकी रक्षा करने का संदेश दिया जाता है।

लोक साहित्य मनोरंजन का साधन भी होता है। त्रिपुरी समुदाय में कई लोकगीत, नृत्य और नाटक होते हैं जो इन पर आधारित होते हैं। त्रिपुरी लोक साहित्य में जंगल और लोक समाज का वर्णन, उनके रीति-रिवाजों, त्योहारों, नृत्य और सामाजिक ताने-बाने में गहराई से मिलता है, जहाँ जल जीवन का प्रतीक है, जंगल आजीविका और आध्यामतिकता का आधार है और लोक समाज की एकता व पहचान नृत्य और उत्सव में झलकती है।

प्रमुख त्रिपुरी लोक कथाएं:

1. चेथूवांग
2. खुमपुई-1 (sa)
3. खुमपुई (Nwi)
4. बाबा गरिया आचाईमानी कथमा।

उपर्युक्त लोक कथाओं के कुछ संक्षित विवरण जो निम्नलिखित रूप में है -

1. चेथूवांग- इस लोक कथा में प्राकृतिक वर्णन और साथ ही त्रिपुरी समाज की नैतिक मूल्यों, प्राचीन परंपराओं का चित्रण मिलता है।

2. राइमा-शायमा - यह लोक कथा दो बहनों की कथा है, इस कथा में त्रिपुरी समाज की प्राचीन परंपराओं के साथ-साथ त्रिपुरी समुदाय की सांस्कृतिक, लोक विश्वास और प्राकृतिक चित्रण भी मिलता है। यह लोक कथा खुमपुई नाम से भी प्रचलित है। खुमपुई त्रिपुरी भाषा में एक प्रकार के फूल का नाम है।

3. बाबा गरिया - यह लोक कथा त्रिपुरा राज्य की आदिवासियों की रीति-रिवाज और परंपराओं का बखूबी चित्रण करता है। इनमें प्राकृतिक पूजा और साथ ही लोग अपनी कृषि उपकरणों का विशेष रूप से पूजा करते हैं। गरिया पूजा का उदेश्य किसानों की मेहनत और कृषि उपकरणों की महत्व को मान्यता देना है और समाज में शांति व समानता का भाव लाना है। किसान अच्छी फसल और समृद्धि की प्रार्थना करते हैं। यह पर्व पर आधारित समाज में खेती के महत्व को दर्शाता है।

त्रिपुरी लोक साहित्य में पर्यावरण चेतना

सामान्य रूप से यह माना जाता है की त्रिपुरी समुदाय अपनी लोककथाओं, गीतों और रीति-रिवाजों के माध्यम से प्रकृति से जुड़े महत्व को दर्शाता है। प्रकृति का सम्मान, पेड़ों और नदियों की पूजा, औषधियों, पौधों का ज्ञान और प्राकृतिक तत्वों के साथ सह-अस्तित्व ही लोक साहित्य में पर्यावरण चेतना के प्रमाण हो सकते हैं।

जीवन के लिए पेड़-पौधे अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। तभी तो हमारे लोगों ने पेड़-पौधों को भी ईश्वर व अलौकिक सत्ता से जोड़ दिया है ताकि उनको संरक्षित किया जा सके। उदाहरणार्थ एक त्रिपुरी लोक कथा 'बाबा गरिया' है, जिसमें प्रकृति के प्रति प्रयत्न का परिणाम है जहाँ बाँस की पूजा की जाती है।

त्रिपुरी समुदाय का प्रकृति के साथ बड़ा अटूट संबंध देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ प्रकृति संबंधी एक लोक कथा 'खेलंगवार' इसके माध्यम से प्रकृति के साथ संतुलन बनाए रखने और उसकी रक्षा करने का संदेश दिया जाता है।

त्रिपुरी समाज का जीवन परंपरागत रूप से कृषि प्रधान रहा है। इस कारण त्रिपुरी लोक साहित्य सीधे तौर पर पर्यावरण पर आधारित अनुभवों का प्रतिबिंब है। मौसम परिवर्तनों, फसलों के चक्र, वर्षा, सूखा, जल स्रोतों की स्थिति आदि का प्रभाव लोक कथाओं में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन कथाओं के माध्यम से न केवल यह बताया जाता है कि प्रकृति से संतुलित रिश्ता कैसे बनाया जाए, बल्कि पर्यावरण के प्रति जिम्मेदारी और संरक्षण की सीख भी दी जाती है। यह न केवल लोक संस्कृति का हिस्सा है, बल्कि आज के पर्यावरण संकट के संदर्भ में भी अत्यंत प्रासंगिक है।

त्रिपुरी लोक गीत:

गारो कोचाक गारो चिकन
थिगोई काईदि बायारक
वातोई थप थप वाओ
नोबर कवचंग सिब
आलिया कुना नोखा
सम फाईखा
दअई काइदि, दअई काइदि
दअई काइदि बायाप क्वताल रोक

ऊपर दिए गए लोक गीत में त्रिपुरी समुदाय के द्वारा धान लगाते समय वातावरण का चित्रण किया गया है। जिसमें बारिश, बादल, आकाश आदि का वर्णन है।

निष्कर्ष:

त्रिपुरी लोक साहित्य त्रिपुरी समाज की सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक परंपराओं का महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह साहित्य केवल लोक कथाओं, गीतों, कहावतों और प्रचलित रीति-रिवाजों का संग्रह नहीं है, बल्कि इसमें प्रकृति और पर्यावरण के प्रति एक गहरी समझ और संवेदना का भी समावेश पाया जाता है। त्रिपुरी समाज, जो मुख्य रूप से भारत के त्रिपुरा राज्य में निवास करता है, अपनी जीवन शैली में प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व और संतुलन की भावना को समाहित करता आया है। पारंपरिक लोक साहित्य में अनेक ऐसी कथाएँ, गीत और कहावतें हैं, जो प्रकृति के संरक्षण और संतुलित उपयोग की सीख देती हैं। यह साहित्य पर्यावरण चेतना का सजीव दस्तावेज़ है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परंपरा के माध्यम से संचारित होता आया है।

त्रिपुरी लोक कथाओं में प्रकृति को केवल एक संसाधन के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उसे एक जीवित शक्ति के रूप में मान्यता दी जाती है। पेड़-पौधे, नदियाँ, पहाड़, पशु-पक्षी आदि का सम्मान लोक साहित्य का अभिन्न हिस्सा है। लोक कथाओं में अक्सर प्रकृति के साथ संतुलित संबंध स्थापित करने की प्रेरणा दी जाती है। उदाहरण स्वरूप, अनेक लोक गीतों में प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन तो मिलता ही है, साथ ही साथ यह भी बताया जाता है कि प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन न करें। पारंपरिक कहवतें इस बात का प्रतीक हैं कि प्रकृति के संरक्षण के बिना मानव जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती।

त्रिपुरी लोक गीतों में प्राकृतिक सौंदर्य के साथ-साथ प्रकृति की अनमोलता को गीतात्मक शैली में प्रस्तुत किया जाता है। नदियों की कल-कल बहती धारा, हरियाली से भरपूर जंगल, पर्वतों की ऊँचाईयाँ आदि की सुंदरता को प्रेमपूर्वक गाया जाता है। साथ ही, ये गीत चेतावनी स्वरूप भी होते हैं कि

अगर हम प्रकृति का संतुलन बिगाड़ते हैं तो इसका प्रतिफल भी भुगतना पड़ेगा। यह दर्शाता है कि त्रिपुरी समाज में प्रकृति के प्रति गहरी आदर भावना रही है। उदाहरण स्वरूप, कुछ गीतों में यह बात स्पष्ट रूप से व्यक्त होती है कि जल स्रोतों की रक्षा करो, पेड़ों की कटाई न करो और जीव-जंतुओं के साथ सह-अस्तित्व बनाकर रहो।

लोक कथाओं में पर्यावरण संरक्षण का संदेश सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से भी जुड़ा हुआ है। त्रिपुरी समाज में प्रकृति को देवी-देवताओं का निवास स्थल माना जाता है। पेड़, नदी, पर्वत आदि को पवित्र स्थान की तरह देखा जाता है। धार्मिक अनुष्ठानों में प्रकृति के तत्वों का समावेश होता है और प्रकृति के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की जाती है। इन धार्मिक भावनाओं का प्रभाव लोक साहित्य पर भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यह धार्मिक दृष्टिकोण आज के समय में भी पर्यावरण संरक्षण के विचार को प्रोत्साहित करता है।

परंतु आधुनिकता के प्रभाव में त्रिपुरी लोक साहित्य में पर्यावरण चेतना धीरे-धीरे कम होती जा रही है। शहरीकरण, तकनीकी प्रगति और आधुनिक सोच के बढ़ते प्रभाव से पारंपरिक लोक साहित्य की प्रासंगिकता खतरे में पड़ रही है। नए युवा वर्ग में लोक साहित्य के प्रति रुचि घट रही है। इससे त्रिपुरी समाज की पारंपरिक पर्यावरण चेतना का संरक्षण एक चुनौती बनती जा रही है। इस पर विचार करते हुए यह स्पष्ट होता है कि केवल संरक्षण की बातें करने भर से काम नहीं चलेगा, बल्कि इसे युवाओं तक पहुँचाने, इसे आधुनिक माध्यमों के द्वारा प्रचारित करने और स्थानीय विद्यालयों में पर्यावरण चेतना सहित लोक साहित्य को पाठ्यक्रम में शामिल करने की आवश्यकता है। इससे युवा पीढ़ी में प्राकृतिक संसाधनों के महत्व और संरक्षण के प्रति जागरूकता बढ़ेगी।

त्रिपुरी लोक साहित्य में पर्यावरण चेतना केवल स्थानीय स्तर पर ही नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक स्तर पर भी महत्वपूर्ण सन्देश देता है। यह साहित्य हमें याद दिलाता है कि प्रकृति के साथ संतुलन बनाकर रहना मानवता की मूल आवश्यकता है। इस चेतना को अपनाकर हम जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई, जल संकट और जैव विविधता ह्रास जैसी समस्याओं से निपट सकते हैं।

अंततः, त्रिपुरी लोक साहित्य एक अमूल्य धरोहर है, जो न केवल हमारी सांस्कृतिक विरासत को संजोता है, बल्कि पर्यावरण संरक्षण की प्राचीनतम सीख को भी संप्रेषित करता है। यदि हम इसे संरक्षित करें, अध्ययन करें और नए तरीकों से प्रचारित करें, तो यह न केवल त्रिपुरी समाज के लिए बल्कि सम्पूर्ण मानवता के लिए पर्यावरण संरक्षण का प्रेरणास्रोत बन सकता है। प्रकृति के साथ प्रेम और सह-अस्तित्व की यह भावना त्रिपुरी लोक साहित्य की आत्मा है। इस चेतना को सशक्त बनाकर हम एक संतुलित और टिकाऊ भविष्य की ओर कदम बढ़ा सकते हैं। □□

संदर्भ:

1. लोक साहित्य की भूमिका, (2019), लोक भारती प्रकाशन, कृष्णदेव उपाध्याय
2. त्रिपुरा की लोक कथाएं, (प्रभात), मिलन रानी जमातिया
3. खुमपुई, (2015) धरिंजय त्रिपुरा
4. त्रिपुरा की आदिवासी जनजातीय लोक कथाएं, (1996), दिनेश कंडवाल
5. कॉकबरक लुकु कॉकरबाई, (2007), (The Kokborok Folk Literature), रबीन्द्र किशोर देबबर्मा
6. त्रिपुरा उपजाति संस्कृति तांत्रिक चिकित्सा, (1994), अलिंद्र लाल त्रिपुरा

सहायक पुस्तकें:

1. कॉकबरक केरेंग कथमा, (2010), (Kokborok Folk Tales)- रेबती त्रिपुरा
2. तिप्रा लुकोहुकोमु, (2011), (Folk Culture of the Tipra Community) - रबीन्द्र किशोर
3. कॉकबरक केरेंग कथमानि बोचाप, (2014), (A Collection & compilation of Kokborok folktales), सुनील देबबर्मा

****

असम के पर्व-त्योहारों में पर्यावरण चेतना : चाय जनगोष्ठी के विशेष संदर्भ में

लालजी सोनारी
शोधार्थी, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
सूर्यमणि नगर, अगरतला, त्रिपुरा
दूरभाष - 7086779404

शोध सार

भारत की सांस्कृतिक विविधता उसके पर्व-त्योहारों में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। असम के पर्व-त्योहार केवल धार्मिक या सामाजिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि प्रकृति और पर्यावरण के साथ सहजीवन के अद्वितीय उदाहरण हैं। बिहू, बिशु, आलि-आये-लिगांग, करमा पूजा जैसे उत्सव कृषि, जैव-विविधता और प्राकृतिक संतुलन के प्रति गहरी संवेदनशीलता को अभिव्यक्त करते हैं। इन पर्वों में प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग, पुनर्चक्रण तथा पर्यावरण-मित्र परंपराएँ निहित हैं। विशेषकर असम की चाय जनगोष्ठी, जो लगभग दो शताब्दी पूर्व विभिन्न राज्यों से असम आई, अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परंपराओं को जीवित रखे हुए है। इनके करमा पूजा, टुसू पूजा, सोहराई पर्व आदि पर्यावरण चेतना और सामुदायिक सहयोग की परंपरा को पुष्ट करते हैं। वर्तमान वैश्विक परिप्रेक्ष्य में जब जलवायु परिवर्तन और संसाधनों का दोहन बड़ी चुनौतियाँ बन चुके हैं, तब असम के पर्व-त्योहार सतत् और संतुलित जीवन-पद्धति की ओर मार्गदर्शन करते हैं।

बीज शब्द - असम, पर्व-त्योहार, चाय जनगोष्ठी, पर्यावरण चेतना, प्रकृति पूजा, सांस्कृतिक पहचान, सतत जीवन पद्धति

प्रस्तावना

अनादि काल से ही भारत पर्व-त्योहारों का देश रहा है। यहाँ की सांस्कृतिक विविधता का सबसे जीवंत रूप इसके पर्व-त्योहारों में दिखाई देता है। प्रत्येक राज्य और समुदाय अपने उत्सवों के माध्यम से न केवल जीवन का उल्लास और सामूहिकता की भावना व्यक्त करता है, बल्कि प्रकृति और पर्यावरण के साथ अपने संबंध को भी अभिव्यक्त करता है। पूर्वोत्तर भारत का द्वार कहे जाने वाले असम की सांस्कृतिक परंपरा में लोकसाहित्य, नृत्य, संगीत और पर्व-त्योहारों का विशेष महत्व है। यहाँ के पर्व-त्योहार केवल धार्मिक या सामाजिक आयोजन मात्र नहीं, बल्कि मनुष्य और प्रकृति के बीच संतुलन स्थापित करने का माध्यम भी हैं। इनमें निहित पर्यावरण चेतना, प्रकृति के प्रति आदर और संरक्षण का संदेश इन्हें विशेष रूप से प्रासंगिक बनाते हैं।

आज जब संपूर्ण विश्व जलवायु परिवर्तन, प्रदूषण, वनों की कटाई और प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन जैसी समस्याओं से जूझ रहा है, तब हमारे पारंपरिक पर्व-त्योहारों में निहित पर्यावरणीय मूल्यों को पहचानना और आत्मसात करना अत्यावश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से असम के पर्व-त्योहार न केवल सांस्कृतिक अस्मिता का बोध कराते हैं, बल्कि एक सतत और संतुलित जीवन पद्धति की ओर भी मार्गदर्शन करते हैं।

असम की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और प्रकृति का स्थान

असम ब्रह्मपुत्र और बराक घाटियों से घिरा हुआ राज्य है। यहाँ के विशाल मैदान,

हरित वनों से आच्छादित पर्वत श्रृंखलाएँ, नदियाँ, कृषि भूमि, चाय बागान, धान के खेत और लोकजीवन की सरलता मिलकर इसकी संस्कृति को आकार देते हैं। जैव-विविधता और प्राकृतिक संपदा असमिया जीवन का अभिन्न हिस्सा है।

असमिया समाज ने प्रकृति के इस अद्भुत वैभव को अपने पर्व-त्योहारों में समाहित किया है। फसल आधारित बिहू उत्सव, जनजातीय समुदायों के कृषि और वनों से जुड़े पर्व तथा धार्मिक मेलों में पृथ्वी और उर्वरता की पूजा ये सभी असम की संस्कृति में पर्यावरण और सहजीवन की धारणा को स्पष्ट करते हैं। असम के प्रमुख त्यौहारों से जुड़ी परंपराएँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं कि यहाँ के उत्सव केवल सांस्कृतिक पहचान का प्रतीक नहीं हैं, बल्कि पर्यावरणीय चेतना और प्रकृति के प्रति गहरे लगाव का भी द्योतक हैं।

असम का सबसे बड़ा और लोकप्रिय पर्व बिहू है, जो वर्ष में तीन बार मनाया जाता है। अप्रैल माह में असमिया नववर्ष और खेती की शुरुआत से पूर्व गाय-बैलों के संवर्धन हेतु पूजा-अर्चना तथा बिहू नृत्य-गीत के माध्यम से प्रकृति के वंदन से रंगाली बिहू (बैसाख बिहू) मनाने से लेकर अक्टूबर में धान की बालियों से लहलहाती खेतों में दीप दान के जरिए कोंगाली बिहू (कार्तिक बिहू) मनाना तथा जनवरी में फसल कटाई के बाद तरह-तरह के पकवानों से भोगाली बिहू (माघ बिहू) मनाना और इस अवसर पर बाँस, धान के फूस और पत्तों से 'भेलाघर' तथा 'मेजी' का निर्माण प्राकृतिक सामग्री का उपयोग और पुनर्चक्रण का संदेश देता है।

असम में बोड़ो, कार्बी, मिसिंग, डिमासा, देउरी, तिवा आदि अनेक जनजातियाँ निवास करती हैं। इनके अलावा असम में चाय जनगोष्ठी के लोग भी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। इन सभी समुदायों के पर्व-त्योहार प्रकृति संरक्षण और पर्यावरणीय चेतना के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। बोड़ो समुदाय का बिशु पर्व, मिशिंग जनजाति का आलि-आये-लिगांग, कार्बी जनजाति का रोंगकेर तथा चाय जनगोष्ठी की करमा पूजा — ये सभी उत्सव न केवल पर्यावरण संरक्षण के संदेश को प्रकट करते हैं, बल्कि जैव-विविधता और प्राकृतिक संतुलन के प्रति गहरी संवेदना को भी उजागर करते हैं।

असम के कई धार्मिक पर्व भी पर्यावरणीय दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। गुवाहाटी स्थित कामाख्या मंदिर में प्रतिवर्ष लगने वाला अंबुबाची मेला स्त्री-शक्ति और पृथ्वी माता की उर्वरता का उत्सव है, जो सीधे धरती की जैविक क्षमता और पर्यावरणीय चेतना का प्रतीक है। इसी प्रकार, दौल उत्सव फाल्गुन माह में प्राकृतिक रंगों (पलाश, टेसू, हल्दी आदि) के प्रयोग पर बल दिया जाता है। नाम-कीर्तन, विवाह समारोह, मृत्यु भोज या अन्य सामूहिक अवसरों पर असमिया समाज में आज भी केले के पत्ते, केले के तने से बने दोने, मिट्टी के बर्तन आदि का उपयोग किया जाता है, जो पर्यावरण-मित्र परंपराओं का प्रमाण है।

चाय जनगोष्ठी के पर्व-त्योहारों में पर्यावरण चेतना -

इस लेख में हम असम की चाय जनगोष्ठी के पर्व-त्योहारों में निहित पर्यावरण चेतना पर प्रकाश डालेंगे। असम की चाय जनगोष्ठी कहलाने वाली लोक समुदाय को लगभग 200 वर्ष पहले बिहार, उत्तर प्रदेश, बंगाल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखंड आदि राज्यों से तत्कालीन अंग्रेज शासकों द्वारा चाय के बागानों में मजदूरी करने के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपना कर असम में लाया गया था। अपनी मातृभूमि से भले ही यह लोग बिछड़ गए पर अपने साथ लेकर आए अपनी कला-संस्कृति, पर्व-त्यौहार, भाषा-भूषा आदि। असम के इन्हीं चाय मजदूरों के वंशज आज चाय जनगोष्ठी के नाम से जाने जाते हैं। इस चाय जनगोष्ठी के अंतर्गत लगभग सवा सौ जातियां है जिनकी अपनी-अपनी विशिष्टताएँ हैं। भले ही इन जातियों में रहन-सहन, भाषा-भूषा, कला-संस्कृति आदि में भिन्नताएं हैं, पर असम की भूमि में यह सभी जातियों ने आपस में मिलकर एक साझा भाषिक तथा सांस्कृतिक पहचान को विकसित किया है। इस चाय जनगोष्ठी के समाज में विभिन्न पर्व-त्योहार, उत्सव-पूजा, अनुष्ठान आदि देखने को मिलते हैं। चाय जनगोष्ठी की अधिकतर जातियां जनजातीय समाज से संबंध रखती हैं। अतः उनके द्वारा मनाए जाने वाले सभी पर्व-त्यौहार प्रकृति एवं पर्यावरण से जुड़े हुए हैं। इन पर्व त्योहारों में मुख्यतः करमा पूजा, टुसू पूजा, सोहराई पर्व, ग्राम पूजा, वीर पूजा, सूर्याही पूजा, खेत पूजा, आखाइन यात्रा, इंखुर पूजा, चूल्हा धूला पूजा, मनसा पूजा, दुर्गा पूजा, काली पूजा आदि मनाते हैं।

करमा पूजा

समान्यतः भाद्रपद महीने के शुक्ल एकादशी को करमा पूजा मनाया जाता है। इस पूजा के लिए व्रत रखने वाली युवती तथा महिलाएं पूजा के एक सप्ताह पहले से अनाज,

तिलहन और दलहन के बीज किसी टोकरी में रेत अथवा मिट्टी भरकर अंकुरित करती हैं जिसे 'जावा' कहते हैं। इस कार्य को प्रकृति संरक्षण तथा संवर्धन का प्रयास भी कहा जा सकता है। इसे सृष्टि चक्र को सम्मान प्रदर्शन के रूप में देखा जा सकता है। इस जावा को सभी व्रतधारी सावधानी पूर्वक प्रतिपालन करती हैं तथा उन दिनों सदाचार तथा सात्विक जीवन जीने पर विशेष ध्यान देती हैं। व्रतधारी केवल बीज बोकर जावा उगाने तक ही चुप नहीं बैठती, बल्कि प्रतिदिन उन जावाओं को जगाने का कार्य भी नृत्य तथा गीत के माध्यम से करती हैं। इसके द्वारा पर्यावरण के प्रति उनकी विशेष प्रतिबद्धता को समझा जा सकता है।

पूजा के दिन करम नामक एक वृक्ष की डाल को धूप-दीप आदि से पूजा-अर्चना कर विधिवत गाजे-बाजे तथा नृत्य-गीत के साथ आदर सहित पूजा स्थल पर लाया जाता है। कहीं-कहीं कदम की डाल अथवा पीपल, पाकड़ या बाँस की कोईन और कतिपय स्थानों पर ईख की डाल को भी गाड़ा जाता है। इस प्रकार इस संपूर्ण पूजा में आदि से लेकर अंत तक पेड़ पौधों के प्रति विशेष आदर का भाव देखने को मिलता है।

टुसू पूजा

मकर संक्रांति की पूर्व संध्या पर इस पूजा का आयोजन होता है। इस पूजा के एक महीने पहले से ही मोहल्ले की महिलाएं टुसू पूजा की अगुवाई करने वाली महिला, जिसे टुसू मां की उपाधि दी जाती है, के घर टुसू जागरण के गीत गाती हैं। संक्रांति की पूर्व संध्या पर इस पूजा को किया जाता है। फिर अगले दिन टुसू देवी की पालकी का प्रतीक स्वरूप चौड़ल को अथवा कहीं-कहीं टुसू की मिट्टी की बनी मूर्ति को गांव के घर-घर घुमाया जाता है। तत्पश्चात नदी में ले जाकर विसर्जित किया जाता है। इस पूजा के लिए साफ-सफाई का विशेष ध्यान रखा जाता है। मान्यता यह है की पूजा निर्विघ्न संपन्न होने पर लोगों को फोड़े-फुंसी आदि होने का खतरा नहीं रहता। विशेष यह कहा जा सकता है कि इस पूजा के बहाने लोगों में स्वच्छता का भाव जगाया जाता है। इस प्रकार इस पूजा के माध्यम से गांव भर के घरों में स्वच्छता का वातावरण निर्माण होता है। कुछ लोग टुसू शब्द को टुसा (अंकुर) के साथ भी जोड़कर देखते हैं। उनका मानना है कि यह पूजा नए बीज के अंकुरण का प्रतीक है।

सोहराई पर्व

चाय जनगोष्ठी में गाय-बैलों का विशेष महत्व है। गाय को लक्ष्मी का प्रतिरूप मानते हैं। इसलिए दिवाली के दूसरे दिन अपने गौशालाओं की साफ-सफाई कर रंगोली आदि बनाते हैं तथा सभी गाय बैलों को नहला-धुला कर उनकी सींगों में तेल लगाते हैं तथा टीका आदि लगाकर उनकी आरती उतारते हुए पूजा करते हैं। इस अवसर पर उनकी समृद्धि हेतु गीत आदि गाए जाते हैं। रात को आस-पड़ोस की गौशालाओं में भी जाकर गीत गाया जाता है। इस प्रकार गोवंश की समृद्धि से ही मानव समाज की समृद्धि जुड़ी हुई है इसका संकेत इस पर्व के द्वारा मिलता है। स्मरण हो कि इसी समय भारत विभिन्न प्रांतों में भी गोवर्धन पूजा का चलन है।

ग्राम पूजा

चाय जनगोष्ठी के सभी ग्रामों में इस पूजा को मनाया जाता है। यह पूजा मूलतः ग्राम के रक्षक देवता को समर्पित होती है। इस अवसर पर ग्राम के सभी लोग अपने-अपने घरों तथा गाँव की सफाई करते हैं। गाँव में स्थापित ग्राम देवता का मंदिर, जिसे देवघर कहा जाता है, वहाँ जाकर सामूहिक रूप से पूजा की जाती है। इस पूजा के लिए किसी पुजारी की आवश्यकता नहीं पड़ती। ग्राम के किसी वरिष्ठ जानकार व्यक्ति ही इस पूजा का पुरोहित होता है। पूजा के दिन वह व्यक्ति यथाविधि उपवास रहकर पूजा संपन्न करता है। इस पूजा में गाँव के लोग अपनी-अपनी मनौती के अनुसार फल-मूल, प्रसाद, पशु-पक्षी आदि का चढ़ावा चढ़ाते हैं। पूजा संपन्न करते समय वाद्ययंत्र बजाए जाते हैं। वाद्यों की थाप पर पुरोहित के शरीर में कंपन शुरू होता है और वह झूमने लगता है। इसे पुरोहित पर देवी का आना कहा जाता है। इस झूमने की अवस्था में पूजा में आए हुए लोग अपनी-अपनी समस्या देवी के सामने बताते हैं जिसका समाधान उन्हें पुरोहित के माध्यम से मिलता है। पूजा के अंत में पशुओं की बलि चढ़ाने की भी परंपरा है। इसके पश्चात गाँव को बांधने का भी नियम है यह बंधन कार्य रात के अंधेरे में संपन्न किया जाता है। ऐसा करने के पीछे की मान्यता यह है कि बाहर से किसी भी प्रकार की कोई विपत्ति या बीमारी अथवा कोई अशुभ शक्ति का प्रवेश अपने गाँव में ना हो। इस प्रकार इस पूजा के बहाने गाँव वालों में स्वच्छता का भाव जगाया जाता है। जिससे काफी हद तक बीमारी आदि से बचा जा सकता है तथा गाँव की समृद्धि में सहायता होती है।

सरहुल पूजा

बसंत के आगमन के साथ चाय जनगोष्ठी के लोग भी प्रकृति के मनमोहक रूप की स्तुति हेतु इस पूजा का आयोजन करते हैं। इसे चैत्र महीने की पंचमी अथवा नवमी के दिन मनाया जाता है। चाय जनगोष्ठी के अंतर्गत अलग-अलग उपजातियों में इस पूजा को अलग-अलग तरीके से मनाने की प्रथा देखी जा सकती है। पर यह पूजा मूलतः प्रकृति के प्रति साभार प्रकट करने का ही संकेत करती है।

सूर्याही पूजा

पूरे संसार की शक्ति के आधार स्वरूप भगवान सूर्य को समर्पित यह पूजा चाय जनगोष्ठी समाज में सूर्याही पूजा के नाम से जाना जाता है। साधारणतः इस पूजा को 5 वर्ष अथवा 12 वर्ष के अंतराल में किया जाता है। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के बीच ही इस पूजा को संपन्न किया जाता है। इस पूजा की विशेषता यह है कि इसे घर के आंगन अथवा जंगल में ही किया जाता है। किसी भी हालत में पूजा के प्रसाद को घर के अंदर ले जाने की अनुमति नहीं है। तथा सूर्यास्त से पहले इस पूजा के बचे हुए प्रसाद को जमीन में गाड़ दिया जाता है। क्योंकि सूर्यास्त के बाद प्रसाद ग्रहण करने का नियम नहीं है।

खेत पूजा

खेती की रखवाली करने वाले देवता को कृतज्ञता प्रकट करने के उद्देश्य से चाय जनगोष्ठी के कुछ लोग इस पूजा को संपन्न करते हैं। उनका मानना है कि देवता द्वारा खेती की रखवाली करने के कारण ही उन्हें फसल की प्राप्ति होती है। अतः खेत में ही किसी एक स्थान पर इस पूजा को बलि विधान के साथ किया जाता है।

अखाइन यात्रा

माघ महीने के प्रथम दिवस से खेती का शुभारंभ माना जाता है। इस अवसर पर इस पूजा को किया जाता है। इस पूजा में गाय बैलों की पूजा की जाती है तथा अपने खेत में कुदाल चलाकर खेती की शुरुआत करते हैं।

इंखुर पूजा

गाय-मवेशियों की समृद्धि तथा उन्हें निरोग रहने की कामना करते हुए गाय-भैंस चराने वाले चरवाहे इस पूजा को आपस में मिलकर करते हैं। चरवाहों के द्वारा दूसरे की गाय बैलों की समृद्धि के लिए इस प्रकार पूजा अर्चना करने के पीछे उनका अटूट पशु प्रेम का संदेश मिलता है।

चूल्हा धूला पूजा

जीवन धारण के लिए आवश्यक भोजन पकाने का साधन चूल्हे को भी जनजाति समाज ईश्वर का रूप मानता है। इसी चूल्हे के तीन उचकनों को त्रिदेव - अर्थात सृष्टि-पालन-संहार (ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर) के रूप में दर्शन करता है। इसलिए कुछ समाज में इसे पूजा को करने की परंपरा है। इस अवसर पर घर के लोग उपवास रहकर चूल्हे के साथ-साथ पूरे घर की लिपाई-पुताई तथा साफ-सफाई करते हैं और चूल्हे को रंगोली आदि से सजाकर उसकी पूजा करते हैं। इस अवसर पर नए बर्तन में खीर आदि बनाकर प्रसाद के रूप में ग्रहण करते हैं।

बागान पूजा

पतझड़ के पश्चात जब चाय के पौधों पर नए पत्ते निकलते हैं तो उन्हें तोड़ने से पहले चाय बागानों में काम करने वाले मजदूर मिलकर एक पूजा अनुष्ठान का आयोजन करते हैं। इसे बागान पूजा कहते हैं। इस पूजा में धूप-दीप, नैवेद्य, फल-मूल, मिठाई आदि चढ़ाए जाते हैं। कहीं-कहीं मुर्गे अथवा बकरे की भी बलि दी जाती है। उसी स्थान पर सभी लोग सहभोज का आयोजन भी करते हैं। मूलतः यह पूजा प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रदर्शन ही है।

बड़ पहाड़ी पूजा

पहाड़ को देवता मानकर उसकी पूजा करना भी चाय जनगोष्ठी के कुछ समाजों में देखने को मिलता है। पहाड़ पूजा वास्तव में प्रकृति पूजा का ही एक रूप है। इसमें लोग पर्वतों को केवल भौतिक संरचना नहीं मानते, बल्कि उन्हें एक आध्यात्मिक शक्ति का केंद्र मानकर पूजते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करने वाले जातीय समूहों के जीवन और संस्कृति में पहाड़ों का विशेष महत्व है। यह पूजा प्रकृति के प्रति गहरी श्रद्धा और आभार की अभिव्यक्ति है। लोगों का विश्वास है कि पहाड़ उन्हें भोजन, जल, आश्रय और सुरक्षा प्रदान करते हैं। पर्वतों से बहने वाली नदियाँ, विविध वनस्पति और जीव-जंतु जीवन को पोषण और संतुलन देते हैं। इसी कारण लोग पहाड़ों को आशीर्वाद और संरक्षण का स्रोत मानते हुए उनकी पूजा करते हैं।

मनसा पूजा

बंगाल और झारखंड मूल के चाय जनगोष्ठी में

मनायी जाने वाली एक पारंपरिक पूजा है। यह पूजा साँपों की देवी मनसा से जुड़ी है। इस पूजा का मुख्य उद्देश्य सांपों और बिच्छुओं के विष से सुरक्षा पाना है, साथ ही संतान प्राप्ति और अन्य बाधाओं को दूर करना भी है। नाग पंचमी पर या सावन के महीने में यह पूजा विशेष रूप से की जाती है, जिसमें देवी मनसा को दूध, फूल, खील तथा अन्य भोग अर्पित किया जाता है। कहीं-कहीं बकरे व बत्तख की बलि भी दी जाती है। इन सभी पूजाओं के अतिरिक्त चाय जनगोष्ठी के लोग दुर्गा पूजा, काली पूजा आदि भी करते हैं। इन सभी पूजा अनुष्ठानों को करने के पीछे का कारण प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करना ही है।

आधुनिक संदर्भ में चुनौतियाँ

यद्यपि परंपरा में पर्यावरण चेतना विद्यमान है, लेकिन आधुनिकता और उपभोक्तावाद ने त्योहारों की प्रकृति को बदल दिया है। प्लास्टिक, थर्मोकॉल और कृत्रिम सजावट का प्रयोग बढ़ रहा है। तेज ध्वनि, पटाखों और बिजली की अत्यधिक खपत से प्रदूषण बढ़ रहा है। नदी-तालाबों में पूजा सामग्री फेंकने से जल प्रदूषण हो रहा है।

समाधान और सुझाव

असम के पर्व-त्योहारों को पर्यावरणीय दृष्टि से और भी सार्थक बनाने के लिए कुछ कदम उठाए जा सकते हैं –

1. प्राकृतिक और पुनःचक्रण योग्य सामग्री का उपयोग बढ़ाना।
2. युवा पीढ़ी को पारंपरिक गीत, नृत्य और लोकाचार से जोड़ना।
3. सामूहिक भोज में स्थानीय जैविक उत्पादों का प्रयोग।
4. धार्मिक आयोजनों में प्रदूषण-मुक्त उपाय अपनाना।
5. सरकार और सामाजिक संगठनों द्वारा जागरूकता अभियान चलाना।

निष्कर्ष

असम के पर्व-त्योहार न केवल सांस्कृतिक गौरव के प्रतीक हैं, बल्कि वे हमें पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने की शिक्षा भी देते हैं। बिहू से लेकर अली-आये-लिगांग और अंबुबाची मेले तक हर आयोजन में प्रकृति के प्रति आदर, संसाधनों के संतुलित उपयोग और जैव विविधता के संरक्षण की चेतना समाहित है। आवश्यकता है कि हम इन परंपराओं को आधुनिक समय की चुनौतियों के अनुरूप पुनर्जीवित करें और उन्हें केवल औपचारिकता न मानकर सतत जीवन का आधार बनाएं।

इस प्रकार, असम के पर्व-त्योहार हमें यह सिखाते हैं कि सच्चा उत्सव वही है, जो मनुष्य को प्रकृति के साथ जोड़ता है, उसके संरक्षण का संदेश देता है और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक स्वच्छ, स्वस्थ और सुंदर पर्यावरण सुनिश्चित करता है। ☐☐

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1. Engti, Dhaneswar; Socio-cultural and spiritual traditions of Assam; Heritage Foundation; Guwahati (2012)
2. Bhushan, Chandra; Assam: Its Heritage and Culture; Kalpaz Publications, New Delhi (2024)
3. परमार, वीरेंद्र; असम : लोक जीवन और संस्कृति; हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली, (2024)
4. कुर्मी, गणेश चंद्र; संपा. देउराम तासा रचनावली; असम साहित्य सभा, जोरहाट, 2013
5. अधिकारी, शुकदेव; चाह जनगोष्ठीर लोकगीत लोक परंपरा आरु उत्सवर रूपरेखा; सरस्वती डी. एन. प्रकाशन, गुवाहाटी, 2015
6. कुर्मी, सुशील; करम परव आरु झुमइर गीत; असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, 2003
7. कुर्मी, गणेश चंद्र; चाह जनगोष्ठीर संस्कृतित एक झलक; असम चाह जनगोष्ठी साहित्य सभा, 2014
8. बरमुदै, डॉ आनंद; संपा. संक्षिप्त चाह कोष; असम साहित्य सभा, जोरहाट, 2006
9. गोगोई, राजेन; संपा. चाह जनगोष्ठीर चिंता चेतना; असम साहित्य सभा, जोरहाट, 2001
10. कुर्मी, सुशील; संपा. नारायण घटवार रचनावली; असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, 2020
11. कुर्मी, सुशील; संपा. मेघराज कर्मकार रचनावली; असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, 2018
12. तासा, डिंबेश्वर; चाह जनगोष्ठीर समाज-संस्कृति; असम प्रकाशन परिषद, गुवाहाटी, 2012
13. तासा, रेखा; चाह जनगोष्ठीय लोक-कला; देउराम तासा शाखा साहित्य सभा, जोरहाट, 2002

****

देबबर्मा समाज और पर्यावरण

मोलिना देबबर्मा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
सूर्यमणि नगर, अगरतला त्रिपुरा
दूरभाष - 9862791061

प्रस्तावना:

भारत विविधता वाला देश है, जहाँ हर जनजाति और हर समाज की अपनी विशिष्ट पहचान होती है। उसी प्रकार पूर्वोत्तर भारत का एक छोटा सा राज्य त्रिपुरा है जो अपनी समृद्ध जनजातीय संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है। त्रिपुरा का सीमावर्ती क्षेत्र तीनों ओर से बांग्लादेश से सटा हुआ है। त्रिपुरा के आस पास के उत्तर दिशा में असम और पश्चिम में कुमिल्ला और बांग्लादेश में नोवाखाली जिला, दक्षिण में चिटागंग और नोवाखाली का आधा भाग एवं मिजोरम का सीमांत स्थित है। यहाँ उन्नीस जनजातियाँ निवास करती हैं, जिनमें आठ जनजातियाँ कॉकबरक भाषी हैं - देबबर्मा, त्रिपुरी, जमातिया, रियांग, नोवातीया, कलई, मुरासिंह, उचई, रूपीनी है। यहाँ माणिक्य राजाओं के काल से ही देबबर्मा समाजों का जीवन, रीति-रिवाज और संस्कृति प्रकृति के साथ गहराई से जुड़ी रही है। देबबर्मा, त्रिपुरी समाज की जनजातीय अस्मिता का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है जो उनके जीवन को प्रकृति के अनन्य रूप से संबंधित रखता है। देबबर्मा समाज का मानता है कि प्रकृति केवल जीवन जीने का आधार नहीं बल्कि जीवनदाता है। जिसमें पहाड़, जंगल, नदियाँ, पशु-पक्षी और पेड़-पौधे उनके अस्तित्व और संस्कृति की जड़ों में समाए रहते हैं।

मुख्य बिन्दु:

- देबबर्मा समाज की प्रकृति और जीवन
- देबबर्मा समाज की संस्कृति और परंपरा
- पर्यावरण संरक्षण

प्रकृति और जीवन:

देबबर्मा समाज का दैनिक जीवन प्रकृति के इर्द-गिर्द घूमता है।

1. कृषि और झूम खेती :

प्राचीन समय से ही देबबर्मा समाज के लोग अपनी आजीविका का परंपरागत साधन झूम खेती (shifting cultivation) मुख्य रही है। जिस प्रकार त्रिपुरा में निवास करते अन्य समुदाय के लिए जीवन चलाएं रखने की पद्धति झूम खेती रही है उसी प्रकार देबबर्मा समाज के लिए भी झूम खेती प्रमुख रही है। इस पद्धति में जंगल की भूमि का सीमित समय तक उपयोग कर खेती की जाती है और फिर भूमि को पुनः उपजाऊ होने के लिए छोड़ दिया जाता है। यह पद्धति प्रकृति के साथ संतुलन बनाने की एक पारंपरिक तकनीक है। जिसमें चावल, सब्जियाँ, अदरक, फल आदि उनकी मुख्य उपज रहती थी, लेकिन आज के बदलते समय में लोग केवल झूम खेती पर ही निर्भर नहीं रहा बल्कि अपने जीवन गुजारा करने के लिए समय के साथ उन लोगों ने रबड़, सुपारी, नारियल, संतरा आदि जैसे बागवानी को जीविका माध्यम बनाते आएं है। साथ ही देबबर्मा समाज के लोग पशुपालन और मछली पालन करते हैं कई ऐसे परिवार है जो सुअर, बकरी, मुर्गी

पालन करते हैं इसके साथ घर के पुरुष व महिलाएं हस्तशिल्प और बुनाई का कार्य भी करते हैं जिसमें बाँस और बेंत से टोकरी, चटाई, फर्नीचर बनाना, कपड़े बुनना (जैसे रिगनाई रिसा) भी उनके लिए आजीविका का हिस्सा है। इस प्रकार देबबर्मा समाज के लिए आजीविका का मुख्य साधन कृषि और प्रकृति पर आधारित होती थी लेकिन आज वे आधुनिक शिक्षा और रोजगार के माध्यम से विविध क्षेत्रों में आगे बढ़ चुके है।

2. वनस्पति और औषधीय पौधे

देबबर्मा समाज के लोग प्राचीन समय में विभिन्न पेड़-पौधों और जड़ी-बूटियों का प्रयोग औषधि के रूप में करते हैं। यह उनका पारंपरिक पारिस्थितिक ज्ञान (Traditional Ecological Knowledge) है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी स्थानांतरित होता रहा है। उनके कुछ प्रमुख औषधीय पौधे और उनके उपयोग:

1. तुलसी (Tulsi) - यह हमारे आम जीवन में होने वाली सर्दी-जुकाम, खाँसी, रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ाने में लाभकारी होती है।

2. नीम (Neem) - नीम मनुष्य की त्वचा में होने वाले रोग, दाँत और मसूड़ों की समस्या, रक्त शुद्धिकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

3. आंवला (Amla) - आंवला को विटामिन C का स्रोत, आँखों और पाचन के अच्छे के लिए उपयोग किया जाता है।

4. अश्वगंधा (Ashwagandha) - यह एक प्रकार से शारीरिक और मानसिक ताक़त को बढ़ाने वाली औषधीय पौधा है।

5. हल्दी (Turmeric) - हल्दी शरीर में होने वाले घाव को भरने, सूजन और संक्रमण में उपयोगी होती है।

6. अदरक (Ginger) – अदरक पाचन, सर्दी-खाँसी और दर्द निवारण में सहायक होती है।

प्राचीन समय से लेकर आज भी इस प्रकार के वनस्पति और औषधीय पौधों का प्रयोग देबबर्मा समाज के लोग करते रहे हैं। खासतौर पर अगर किसी की हड्डी टूट जाने पर उसको जोड़ने के लिए कई प्रकार के औषधीय पौधों का उपयोग करके उसको ठीक किया जाता रहा है। इतना ही नहीं, कई ऐसे बीमारियां भी इन औषधीय पौधों के माध्यम से ठीक किया जाता है। इस प्रकार की बातों का जिक्र कॉकबरक भाषा के कई लेखकों ने अपने साहित्य के माध्यम से चित्रित कर औषधीय पौधों के महत्व को समझाने की कोशिश की गई है।

3. जल और भूमि

प्राचीन समय में देबबर्मा समाज के लोग वर्षा जल पर ज़्यादा निर्भर रहते थे और जलस्रोत जैसे नदी, झरना, तालाब और कुएँ से खेती तथा घर के कामकाज करते थे। लेकिन आज के समय में वे तालाब खुदाई, सिंचाई पंप, और जलसंचयन (Water Harvesting) तकनीकों का उपयोग करने लगे हैं। जल उनके धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन से भी जुड़ा होता है, जैसे पूजा-पाठ और उत्सवों में पवित्र जल का प्रयोग करते है और भूमि देबबर्मा समाज के लिए सबसे महत्वपूर्ण संपत्ति है। पहले वे पहाड़ी क्षेत्रों में झूम खेती (Shifting Cultivation) करते थे, जंगल काटकर थोड़े समय तक खेती और फिर आगे बढ़ जाते थे। समय के साथ वे स्थायी खेती की ओर आए, जिसमें चावल, सुपारी, रबड़, फल और सब्ज़ियाँ उगाई जाती हैं। भूमि केवल आर्थिक साधन ही नहीं बल्कि उनकी पहचान और संस्कृति से भी जुड़ी है। गाँव में घर की देवी-देवताओं की पूजा भी भूमि से संबंधित ही होती थी, लेकिन आज भूमिहीनता और भूमि पर दबाव उनके लिए बहुत ही बड़ी समस्या रही है, इसलिए कई लोग शिक्षा और नौकरी की ओर भी बढ़े हैं।

देबबर्मा समाज के लिए नदियाँ, तालाब और झरने केवल जलस्रोत ही नहीं बल्कि उनकी धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का भी आधार हैं। देबबर्मा के कई लोकगीतों और कथाओं में नदियों और झरनों को जीवनदायिनी शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है।

संस्कृति और परंपरा:

देबबर्मा समाज की संस्कृति प्रकृति की छाया में पनपी है।

उत्सव और पूजा-पद्धति में गड़िया पूजा (Garia Puja) इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। यह उत्सव चैत्र महीने के अंत में मनाया जाता है और इस उत्सव में प्रकृति और कृषि देवता से अच्छी फसल, स्वास्थ्य और समृद्धि की कामना की जाती है। इसमें बांस, मिट्टी और प्राकृतिक वस्तुओं का विशेष महत्व होता है। साथ ही केर पूजा त्रिपुरा का राजकीय एवं सामुदायिक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। यह पूजा मुख्यत देबबर्मा समाज द्वारा की जाती है, लेकिन राज्य की अन्य जनजातियाँ भी इसमें शामिल होती हैं। इसका आयोजन प्राचीन काल से

होता आ रहा है और इसे त्रिपुरा के राजाओं द्वारा विशेष रूप से संरक्षण मिला था। केर पूजा का मुख्य उद्देश्य समाज और राज्य की सुरक्षा, शांति और समृद्धि की कामना करना है। इसमें भगवान Ker (एक संरक्षक देवता) की पूजा की जाती है। माना जाता है कि यह पूजा गाँव में होने वाले या आने वाले आपदाओं, बीमारियों और अशांति को दूर करती है।

इसके अतिरिक्त देबबर्मा समाज में खार्ची पूजा भी मनाया जाता है जो कुलदेवी-देवताओं (चौदह देवता) की पूजा है। यह जुलाई-अगस्त महीने में अमावस्या के आठवें दिन मनाई जाती है और सात दिनों तक चलती है। इस पूजा की मूल कथा त्रिपुरा के शाही ग्रंथ राजमाला के अनुसार, चौदह देवताओं की पूजा प्राचीन काल से त्रिपुरा के राजाओं द्वारा होती रही है। राजा त्रिपुर ने पिता दैत्य के मृत्यु के बाद सिंहासन संभाला। अपने साम्राज्य पर अधिकार जमाने के बाद वह अहंकारी और क्रूर हो गया और लोगों से खुद की पूजा करने को कहा। लोगों ने त्रासदी से बचने के लिए भगवान शिव से प्रार्थना की। भगवान शिव ने त्रिपुर को मार दिया। इसके बाद त्रिपुरा में अराजकता फैल गई। पुनः प्रार्थना पर भगवान शिव ने त्रिपुर की विधवा रानी से चौदह देवताओं का मंदिर पुनः स्थापित करने और उनका सात दिन तक, श्रावण महीने की अमावस्या से शुरू होकर, पूजा करने को कहा। ऐसा करने पर रानी को पुत्र त्रिलोचन (सिबराई/ सुबराई) प्राप्त होगा, जो त्रिपुरा का महान राजा बनेगा। इसके पश्चात एक दिन देवी को क्रोधित देखकर देवताओं ने उसे आदेश दिया कि वह अपनी ऋषा को भैंस पर फेंके ताकि वह शांत हो जाए। देवी ने वैसा ही किया। इसके बाद देवी को कहा गया कि वह इन देवताओं की पूजा अपनी जातीय कुलदेवता के रूप में करे। तब से ये चौदह देवता त्रिपुरी लोगों द्वारा पूजे जाने लगे। इन चौदह देवताओं का मंदिर पुराने अगरतला (खोएरपुर) में स्थित है। मंदिर की देखभाल रॉयल पुजारी 'चन्ताई' करता है, जो ब्राह्मण नहीं बल्कि आदिवासी मूल का है। यह परंपरा लगभग 3000 साल पुरानी मानी जाती है। केवल चन्ताई के वंशज ही चन्ताई का स्थान ग्रहण कर सकते हैं। चन्ताई और उनके सहायक सभी देबबर्मा जाति के हैं। यह पूजा एकमात्र ऐसी है जिसमें पूजा देबबर्मा पुजारी द्वारा की जाती है।

हंगराई, यह भी देबबर्मा समाज के पूजा पद्धति का हिस्सा है जिसे भारत के अन्य हिस्सों में संक्रांति के नाम से जाना जाता है, यह त्रिपुरी लोगों द्वारा शुरू किया गया त्योहार है। यह मुख्यतः पूर्वजों की अस्थियों को पवित्र नदी में विसर्जित करने की परंपरा से जुड़ा होता है। त्योहार से पहले घरों की सफाई, सजावट और पकवानों की तैयारी की जाती है। 7-19 वर्ष के लड़के और लड़कियाँ झोपड़ी (हंगराई नोख) बनाकर उसमें खाना पकाते और पूरी रात आनंद मनाते हैं। भोर में झोपड़ी जलाई जाती है और पवित्र जल में स्नान करके नए कपड़े पहनकर माता-पिता और परिवार के वरिष्ठजनों को प्रणाम किया जाता है।

नृत्य और गीत में लेबांग बूमानी (Lebang Boomani) नृत्य जिसको झूम की खेती में खेतों और फसलों से जुड़े कीटों-पतंगों को पकड़ने की प्रक्रिया को सांस्कृतिक रूप दिया जाता है। वहीं मामिता (Mamita) नृत्य फसल की कटाई के बाद देवताओं को अच्छी फसल के लिए धन्यवाद देना और आने वाले समय के लिए समृद्धि की कामना करते हुए किए जाने वाले नृत्य है जो प्रकृति की लय और संतुलन को दर्शाता है। इन नृत्य को करते समय पुरुष और महिलाएँ पारंपरिक परिधान पहनकर सामूहिक रूप से हाथों और पैरों की लयबद्ध चाल और गोल गेरे घूमकर नृत्य करते है । यह नृत्य समाज की एकता, खुशी और प्रकृति के साथ तालमेल का प्रतीक है।

लोककथाएँ

देबबर्मा समाज की प्राचीन कहानियों को हम पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप में सुनते आएँ है जो पहाड़ों को देवता, पेड़ों को संरक्षक और पक्षियों को संदेशवाहक के रूप में देखा जाता है। यह उनकी प्रकृति के प्रति आस्था और श्रद्धा को दर्शाया जाता है। इसके अलावा कई ऐसी लोक कथाएँ है जिसमें एक भाई अपनी ही बहन को पसंद करने लगता है और उससे शादी करने की जिद ने किस प्रकार अपने ही बहन को खो बेठता है। इसमें प्रकृति को बहुत ही मार्मिक और समय आने पर संघर्ष से बचाते दिखाई देता है। इस प्रकार चैथुवाङ की कथा, कुचुक खेरेंगबर, कंचनमाला आदि जैसे देबबर्मा समाज की अपनी प्रचलित लोक कथाएं है। इन लोक कथाओं में प्रकृति, शौर्य आदि का चित्रण मिलता है जो प्रकृति की सुंदरता को प्रस्तुत करता है ।

पर्यावरण संरक्षण:

देबबर्मा समाज में प्राचीन समय से ही हमेशा प्रकृति

को पूजनीय माना है और उसके संरक्षण के लिए परंपरागत उपाय अपनाए है। देबबर्मा समाज के लोग पहले जंगल को सामूहिक संपत्ति मानकर उसका सीमित उपयोग किया करते थे। साथ ही जलस्रोतों और वनों को पवित्र मानकर अंधाधुंध दोहन से बचाते थे। उनके बीच सामुदायिक जीवन शैली में लेने से अधिक लौटाना (Give Back To Nature) की परंपरा रही है।

लेकिन आज के समय में पर्यावरण की स्थिति बहुत ही चिंताजनक हो चुकी है। जब की प्रकृति ने हमें स्वच्छ हवा, हरे-भरे वन और विविध जीव-जंतु दिए हैं, लेकिन मानव ने अपनी स्वार्थपूर्ण कार्यों के कारण इस संतुलन को बिगाड़ दी है। आज विज्ञान, औद्योगीकरण के बढ़ते प्रभाव ने जनसंख्या वृद्धि, ज्यादातर वनों की कटाई होने लगी जिसके कारण प्रदूषण ने पर्यावरण को बहुत ही गंभीर खतरे में धकेल दिया है। आज के समय में ज्यादातर व्यक्ति को वायु प्रदूषण के कारण साँस की बीमारियाँ, जल प्रदूषण से स्वच्छ पानी की कमी और भूमि प्रदूषण से खेती पर बुरा असर पड़ने लगा है। समाज में बढ़ते ग्रीनहाउस गैसों के कारण ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु परिवर्तन की समस्या बढ़ रही है। इस प्रकार की विकास के अंधी दौड़ ने प्रकृति का संतुलन बिगाड़ दिया है। वर्तमान में वायु प्रदूषण इतना बढ़ चुका है कि महानगरों में सांस लेना भी कठिन हो गया है। जल स्रोत तेजी से प्रदूषित हो रहे हैं और भूजल का स्तर गिरता जा रहा है। वनों की अंधाधुंध कटाई से प्राकृतिक आपदाएँ जैसे बाढ़, भूकंप और भूस्खलन आम होते जा रहे हैं। जलवायु परिवर्तन और ग्लोबल वार्मिंग के कारण पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है और समुद्र का स्तर धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा है। इस प्रकार की समस्याओं के पीछे औद्योगीकरण, जनसंख्या विस्फोट, रासायनिक पदार्थों का अत्यधिक प्रयोग और प्लास्टिक का अनियंत्रित उपयोग जैसे कारण प्रमुख रहे हैं। यदि समय रहते हमने इन पर नियंत्रण नहीं किया, तो आने वाली पीढ़ियों के लिए जीवन संकट में पड़ सकता है। पर्यावरण को बचाने के लिए हमें ज्यादा से ज्यादा पेड़ लगाना होगा, जल का संरक्षण करना होगा, प्लास्टिक का प्रयोग कम करना होगा और नवीन सोच को नई उड़ान देना होगा। साथ ही लोगों के प्रति मन में जागरूकता फैलाना भी आम जनता के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण होता है।

निष्कर्ष:

देबबर्मा समाज का जीवन और संस्कृति प्रकृति से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। उनका जीवन केवल पारंपरिक रीति-रिवाजों और उत्सवों तक सीमित नहीं रहता बल्कि प्रकृति के साथ उनके संतुलित संबंधों का प्रतीक है। चाहे वह झूम खेती हो, जल स्रोतों का संरक्षण, औषधीय पौधों का प्रयोग हो या फिर लोककथाओं में प्रकृति की महत्ता जैसे हर पहलू यह दर्शाता है कि देबबर्मा समाज प्रकृति को केवल संसाधन नहीं, बल्कि पूज्य और जीवनदाता मानता है।

आज जब आधुनिकता के प्रभाव से पर्यावरण असंतुलन और प्रदूषण की समस्याएँ बढ़ रही हैं, ऐसे समय में देबबर्मा समाज की पारंपरिक प्रकृति-परक जीवनशैली हमारे लिए एक प्रेरणा बन सकती है। हमें भी यह समझना होगा कि प्रकृति के साथ तालमेल बनाए बिना सतत विकास संभव नहीं है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम अपने समाज की प्रकृति के प्रति संवेदनशील जीवन शैली से सीख लेते हुए पर्यावरण संरक्षण की दिशा में ठोस कदम उठाएँ। यही आने वाली पीढ़ियों के लिए एक सुरक्षित और संतुलित भविष्य की नींव रखेगा। □□

सहायक ग्रंथ:

1. Saha Sudhanshu Bikash, Tribes of Tripura- A Historical Survey.
2. http://tripura.org.in
3. Biodiversity.tripura.gov.in (Documentation of some indigenous traditional knowledge and their Prioritization for intellectual property rights issues in Tripura.
4. http.//pmc.ncbi.nlm.nih.gov (traditional knowledge of medicinal plants in tribes of Tripura in northeast, India)
5. Dr. Debbarma Kishore, Tribal folk medicine of Tripura, 1994.
6. Bhattacharya Suchintya, From jhuming to tapping, 1992.

****

चाकमा लोककथाओं में पर्यावरण चेतना

मुन्नी चाकमा
शोधार्थी, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
सूर्यमणि नगर, अगरतला त्रिपुरा
दूरभाष - 7085769366

शोध सार :

इस शोध आलेख का उद्देश्य भारत के पूर्वोत्तर क्षेत्र में निवास करने वाले चाकमा समुदाय की लोक कथाओं के माध्यम से पर्यावरणीय चेतना की पहचान और विश्लेषण करना है। यह अध्ययन लोक साहित्य को केवल सांस्कृतिक दस्तावेज न मानकर, उसे एक पर्यावरण शिक्षण के साधन के रूप में प्रस्तुत करता है। चाकमा लोक कथाओं में प्रकृति का मानवीकरण, प्राकृतिक संसाधनों के सतत उपयोग और पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने की सिख छिपी है।

यह शोध आलेख दर्शाता है कि चाकमा लोक कथाओं में प्रकृति की आत्मा, वन देवता, जल स्त्रोतों की पवित्रता और पारंपरिक जीवन शैली के माध्यम से एक समग्र पर्यावरण दृष्टिकोण मौजूद है, जिसे आधुनिक संदर्भ में अपनाना नितांत आवश्यक है।

बीज शब्द : पर्यावरण चेतना, पारंपरिक ज्ञान, पारिस्थितिकी नैतिकता, चाकमा लोककथा, आदिवासी संप्रदाय, पारंपरिक कृषि प्रणाली, आधुनिक टिकाऊ कृषि (Sustainable Agriculture)

भूमिका :

पर्यावरण संरक्षण आज वैश्विक चिंता का विषय बन चुका है। जलवायु परिवर्तन, वनों की कटाई, जैव विविधता का क्षरण जैसे मुद्दे निरंतर हमारे समक्ष चुनौती बनकर खड़े हैं। इन समस्याओं से निपटने के लिए केवल वैज्ञानिक उपाय ही पर्याप्त नहीं हैं, बल्कि स्थानीय ज्ञान और परंपरागत सांस्कृतिक चेतना की भी महत्वपूर्ण भूमिका है।

भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में निवास करने वाला चाकमा समुदाय अपने समृद्ध लोक साहित्य, परंपरागत मान्यताओं और प्राकृतिक जीवन शैली के लिए जाना जाता है। इनकी लोक कथाएँ केवल मनोरंजन का माध्यम नहीं हैं, बल्कि पर्यावरण संरक्षण और प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन के महत्वपूर्ण संदेश भी देती हैं।

चाकमा जनजाति का परिचय :

त्रिपुरा भारत के पूर्वोत्तर सीमांत पर स्थित एक छोटा सा राज्य है। यहा मुख्य रूप से 19 जनजातियाँ पाई जाती है, यथा- त्रिपुरी (त्रिपुरा एवं देबबर्मा), रियांग, जमातिया, नोवातिया, चाकमा, उचई, लुशाय, मुंडा आदि। इन सभी जनजातियों की जीवन जीने की शैली अलग है। चाकमा जनजाति एक आदिवासी संप्रदाय है। इस जनजाति को 'चांगमा' के नाम से भी जाना जाता है। वर्तमान में इस जनजाति का मूल निवास स्थल बांग्लादेश का चटटग्राम है। चाकमा इतिहास के अनुसार यह माना जाता है कि 1333 ई. में चाकमा राजा अरुणयुग बर्मा

(आराकान) राजा मैंगादि के साथ युद्ध में पराजित हुए। बाद में इस युद्ध में बर्मा राजा ने 10 हजार चाकमा सैनिकों को बंदी बना लिया, उसके बाद अंचलों में आराकान राजाओं का शासन प्रतिस्थित हुआ।

अंत में आराकान राजा उक्त अंचलों में अपना प्रभाव फैलने के पश्चात 1427 ई. में चाकमा जनजाति ब्रह्मदेश त्याग कर दक्षिण की ओर चले आए। परवर्ती समय में आराकान राज्य से बंदी बनाकर लाए गए 10 हजार सैनिकों ने अपना परिचय बदला और नया परिचय 'दैनानाक' लेकर उसी राजा के आश्रय में रहने लगे। आराकानी (मोग) भाषा में 'दैन' शब्द का अर्थ है 'ढाल' और नायक शब्द का अर्थ है 'धारणकारी'। अर्थात ढाल धारणकारी या योद्धा। बाद में मूल चाकमा जनजातियों से पृथक रूप में निवास करने के कारण यह समुदाय चाकमा जनजाति से सम्पूर्ण रूप में विच्छन्न हो गए।

चाकमा जनजाति मूलतः हीनयान थेरावेडा बौद्ध धर्म के अनुयायी है। बौद्ध धर्म के अनुयायी होने के कारण वे जीवन के कुछ महत्वपूर्ण मूल्यों का पालन करते हैं। यह जनजाति बड़े ही शांत स्वभाव के होने के साथ-साथ सहनशीलता, सद्भावना जैसे जीवन मूल्यों पर विश्वास रखते हैं और उनका पालन भी करते हैं। यह जनजाति तिब्बती-यूरोपीयन जनजातियों में से एक हैं। इनकी भाषा इंडो-आर्य भाषा परिवार के अंतर्गत आती है। इनकी भाषा भारतीय आर्य भाषाओं के समतुल्य है। इसीलिए चाकमा भाषा में पालि, प्राकृत, पेशाची एवं संस्कृत तथा बांग्ला, असमिया और हिन्दी जैसी भाषाओं का प्रभाव देखने को मिलता है। चाकमा भाषा की अपनी लिपि है, जिसके दो भेद हैं – 'औझा पाठ' और 'मात्रा पाठ'। त्रिपुरा में चाकमा लिपि को लेकर लेखक श्री कुसुम चाकमा ने सबसे पहले कार्य किया था और उनके योगदान से जनवरी, 2012 में चाकमा लिपि को औपचारिक रूप में अपनाते हुए त्रिपुरा सरकार द्वारा हर एक प्राथमिक विद्यालयों में इस भाषा को चाकमा लिपि में परिचय देने का निर्णय लिया गया। दूसरी जनजातियों की तरह चाकमा जनजाति की भी अपनी अलग प्रथा, रीति-रिवाज, खानपान, जीवन शैली, उत्सव आदि हैं। वर्तमान समय में इस जनजाति की संख्या लगभग 50 हजार है जो भारत के त्रिपुरा, अरुणाचल प्रदेश, मिजोरम, असम और विदेशों में बांग्लादेश, म्यानमार, ऑस्ट्रेलिया, कनाडा, फ्रांस और अमेरिका में स्थित है।

लोककथाओं में पर्यावरणीय चेतना :

चाकमा जनजाति की कथाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक रूप से संप्रेषित होती आई हैं। इनकी लोक कथाओं में जीवन और प्रकृति के बीच के गहरे संबंधों को दर्शाया जाता है। इनमें नदियाँ, पर्वत, पशु-पक्षी, वृक्ष आदि जीवंत पात्र के रूप में वर्णित होते हैं। चाकमा कथाओं में प्रकृति को केवल संसाधन नहीं, बल्कि जीवंत सत्ता माना गया है। एक वृक्ष को काटने से पूर्व अनुमति लेना, जल स्त्रोतों को दूषित न करना और पर्वतों को देवता के रूप में पूजना इनके लिए आम धारणा है। इनकी कई कथाओं में पक्षी, जानवर, सर्प आदि संवाद करते हैं, मानवों को सलाह देते हैं या संकट से बचाते हैं। इससे यह भाव उत्पन्न होता है की जीव-जंतुओं के साथ सह अस्तित्व आवश्यक है।

चाकमा जनजाति जल को 'जीवन दायिनी शक्ति' मानते हैं। इनके कथाओं में यह देखा गया है कि जो व्यक्ति नदियों या झरनों का अपमान करता है, उसे प्रकृति द्वारा दंड मिलता है। इससे जल स्त्रोतों के प्रति आदरभाव विकसित होता है।

चाकमा लोक कथाओं में वृक्षों को आत्मा युक्त माना गया है। कई कथाओं में वृक्ष की कटाई के दुष्परिणामों का वर्णन मिलता है – जैसे वर्षा न होना, बीमारियाँ फैलना आदि। इससे यह संदेश मिलता है कि वन संरक्षण समाज के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। कुछ लोककथाएँ यह संदेश देती हैं कि प्रकृति अन्याय को सहन नहीं करती। यदि कोई मनुष्य लालचवश प्रकृति का शोषण करता है, तो अंततः प्रकृति उसे किसी न किसी रूप में दंड देती है। यह एक प्रकार की 'पारिस्थितिक नैतिकता' को दर्शाता है।

झूम खेती या शिफ्टिंग कल्टिवैशन प्रणाली चाकमा समुदाय की पारंपरिक कृषि प्रणाली है। इसमें भूमि को विश्राम दिया जाता है ताकि वह पुनः उपजाऊ बन सके। यह तरीका आधुनिक टिकाऊ कृषि (Sustainable Agriculture) का

जीवंत उदाहरण है।

आज जब दुनिया जलवायु परिवर्तन, वन कटाई, प्रदूषण और जैव विविधता के संकटों से जूझ रही है, तब चाकमा लोक कथाओं से प्राप्त पर्यावरणीय मूल्य अत्यंत प्रासंगिक हो जाते हैं। यह कथाएँ हमें सिखाती है कि प्रकृति के साथ संतुलन और सम्मानजनक संबंध ही मानव अस्तित्व की कुंजी है।

निष्कर्ष :

चाकमा लोककथाएँ केवल जनजातीय समाज की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि वे प्रकृति के साथ गहरे संबंध की परिचायक हैं। इन कथाओं में पर्यावरण को पूजनीय, जीवंत और संवेदनशील रूप में प्रस्तुत किया गया है। चाहे वह पेड़-पौधों की रक्षा हो, जल स्त्रोतों की पवित्रता हो, या पशु-पक्षियों के साथ सह-अस्तित्व का भाव हो। इनकी हर कहानी में प्रकृति के प्रति सम्मान और संरक्षण का संदेश निहित है।

इन कथाओं के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि चाकमा समुदाय ने सदियों से पर्यावरण के साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन जिने की कला सीखी है। आज के समय में जब पूरा विश्व जलवायु परिवर्तन और पारिस्थितिकी संकटों से जूझ रहा है, तब इन लोककथाओं में छिपी पारंपरिक पर्यावरणीय चेतना हमे संतुलित, टिकाऊ और संवेदनशील जीवन शैली अपनाने की प्रेरणा देती है।

इसलिए, चाकमा लोककथाएँ न केवल सांस्कृतिक धरोहर हैं, बल्कि वे पर्यावरण संरक्षण का अमूल्य पारंपरिक ज्ञान भी हैं, जिसे आधुनिक समाज को अपनाने की आवश्यकता है। □□

संदर्भ-सूची :

1. चाकमा भाषा – साहित्य ओ लिपि चर्चा, कुसुम चाकमा, नव चंदना प्रकाशनी, अगरतला, त्रिपुरा (2001)
2. इतिहासेर आलोके चाकमा भाषा, लिपि ओ संस्कृति, अरुण चाकमा, नव चंदना प्रकाशनी, अगरतला (2013)
3. चांगमा पच्छन, निरंजन चाकमा, उपजाति गवेषणा केंद्र, त्रिपुरा सरकार(बैशाख,1409)
4. चाकमा जातिर इतिवृत्त, बिराज मोहन देवान, पार्वत जेला, रांगामाटी (2005)

पत्र-पत्रिकाएँ :

1. पोत्ते सदक पत्रिका – कुसुम चाकमा (संपादक)
2. मादी – कुसुम चाकमा

****

रियांग जनजाति की पारंपरिक कृषि पद्धति में प्रकृति संरक्षण

जितेंद्र रियांग
शोधार्थी, हिंदी विभाग
त्रिपुरा विश्वविद्यालय
सूर्यमणि नगर, अगरतला त्रिपुरा
दूरभाष - 9366078354

सारांश

रियांग (ब्रू) जनजाति प्राचीन काल से कृषि-आधारित जीवन व्यतीत करती आई है। इस समुदाय का मुख्य जीवनाधार झूम खेती (हूः), पशुपालन तथा शिकार रहा है। जंगलों के बीच पहाड़ी क्षेत्रों को साफ करके की जाने वाली झूम खेती आज भी उनकी सांस्कृतिक परंपरा एवं आर्थिक गतिविधि का हिस्सा है, यद्यपि समय के साथ इसमें कमी आई है। इस पद्धति में किसी एक स्थान पर एक वर्ष खेती करने के पश्चात भूमि की उर्वरता को पुनः विकसित होने के लिए पाँच से छह वर्षों तक उसे परती छोड़ दिया जाता है। रियांग जनजाति प्रकृति को देवी के रूप में पूजती है और मानती है कि यदि प्रकृति का दुरुपयोग किया जाए तो दंड अवश्य मिलेगा। इसी कारण वे भूमि, जल, वनस्पति एवं जीव-जंतुओं के साथ संतुलित संबंध बनाए रखते हैं तथा विभिन्न पूजा-पद्धतियों द्वारा प्रकृति को संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। उनके दैनिक जीवन में प्रयुक्त वस्तुएँ पर्यावरण हितैषी होती हैं, जैसे केले के पत्तों का उपयोग, बाँस में भोजन पकाना, तथा बाँस और लकड़ी से बने घरेलू उपकरण। ये सभी वस्तुएँ प्राकृतिक रूप से नष्ट होकर पर्यावरण को प्रदूषित नहीं करतीं। इस प्रकार रियांग जनजाति न केवल प्रकृति से आवश्यक संसाधन प्राप्त करती है, बल्कि उसे संरक्षित भी करती है, जिससे भावी पीढ़ियों के लिए संसाधनों की निरंतरता बनी रहती है।

बीज शब्द: रियांग (ब्रू) जनजाति, झूम खेती, हूः, प्रकृति पूजा, पारिस्थितिक संतुलन, सतत विकास, आदिवासी ज्ञान।

प्रस्तावना:

रियांग जनजाति समुदाय के लोग विश्व के अन्य जातियों के समान प्राचीन काल से कृषक ही रहें हैं। वे कृषि कार्य करने के साथ-साथ पशुपालन तथा शिकार आदि करके अपना परिवार चलाते हैं। रियांग जनजाति समुदाय के लोग प्राचीन काल से ही जंगलों के बीच पहाड़ी इलाके को साफ करके झूम खेती करते आए हैं और यह प्रक्रिया आज तक समुदाय के बीच प्रचलित है। हालाँकि इस समुदाय के लोगों में भी झूम खेती करने वालों की संख्या कम हो गयी हो पर आज भी गाँव में रहने वाले कुछ लोग झूम खेती ही करते हैं। खेती से जो कुछ भी उनको फसल के रूप में प्राप्त होता है वहीं खाकर अपना जीवन पालते हैं। झूम खेती का नियम ऐसा है कि किसी एक स्थान पर किया जाने के बाद फिर से उस स्थान पर अगले साल खेती नहीं कर सकते। उस स्थान पर पुनः खेती करने के लिए कम से कम पाँच से छः साल तक अपेक्षा करनी होती है। एक स्थान पर झूम खेती करने

पर भूमि की पैदावार की क्षमता कम हो जाती है और सिंचाई की सुविधा न होने के कारण फसलें खराब हो जाती है, जिसके कारण हर साल फसलों को काटे जाने के बाद किसी नई खेती के लिए उचित स्थान ढूंढकर उस जगह पर स्थानांतर कर पुनः एक साल के लिए उस स्थान पर रहकर खेती करते हैं। इस प्रकार वे हर साल खेती के लिए अपना स्थान बदलते रहते हैं जिसके कारण उनकी स्थिति अस्थिर रह जाती है और कभी-कभी कई तरह की मुसीबतों का सामना भी करना पड़ता है। इसी झूम खेती की प्रक्रिया को रियांग अथवा ब्रू भाषा में 'हूः' कहा जाता है। जिसमें वे पूरी तरह प्राकृतिक उपजाऊ क्षमता पर निर्भर होकर अपने फसलों को लगाते हैं और उनको पर्याप्त मात्रा में फसल भी प्राप्त होता है। प्राकृतिक उपजाऊ से उगाए गए फसलों को खाकर ही कई सालों तक स्वास्थ एवं तंदुरुस्त रहने के साथ जीवित रहते हैं। वे न तो कोई अधिक चाह के कारण प्रकृति का शोषण करते हैं। प्रकृति के द्वारा उनको जो भी मिलता है उससे वे लोग संतुष्ट रहते हैं।

इस जनजाति समुदाय के लोगों को यह ज्ञात है कि यदि वे किसी तरह के दुरूपयोग प्रकृति के साथ करेंगे तो उनके साथ भी प्रकृति दुर्व्यवहार करेगी और उन्हे अवश्य दंड मिलेगा। इस जनजाति समुदाय के लोग 'प्रकृति' को देवी की रूप में पूजते हैं, किसी भी प्रकार की प्राकृतिक आपदाओं, बीमारियों को वे देवी के प्रकोप का कारण मानते हैं। जिसके कारण वे देवी को कई तरह की पूजा पद्धतियों से संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार प्रकृति की हर चीज जैसे - भूमि, जल, पेड़, जंगल आदि को स्वेच्छा से पूजे जाते हैं। वे प्रकृति को देवी मानने के कारण प्रकृति के प्रति किसी भी तरह की छेड़-छाड़ करने के बारे में नहीं सोचते हैं और सदैव प्रकृति को संरक्षित करके प्रकृति के साथ संतुलन बनाकर रखने के बारे में सोचते हैं। ताकि कई साल आगे जाकर भी किसी भी तरह के उपलब्ध चीजें भी लुप्त न हो जाए और हमेशा की तरह आवश्यकता पड़ने पर वह चीजें भी प्राप्त होती रहे। इस प्रकृति की संरक्षण और संतुलन की भाव के कारण ही यदि एक साल किसी स्थान पर झूम खेती कर लेने के पश्चात उसे अगले पाँच-छः साल तक के लिए छोड़ दिया जाता है, ताकि उसमें फिर से प्राकृतिक तरीके से पैदावार की क्षमता आधिक मात्रा में भर सके और पेड़-पौधे भी फिर से उस खाली स्थान पर बड़ा होकर जंगली जीवों के लिए रहने और खाने की संतुलन बनाए रहे। इस समुदाय के लोग केवल प्रकृति से लाभ नहीं उठाना जानते हैं बल्कि उसका संरक्षण करना भी बहुत अच्छे से जानते हैं। इसके अलावा भी वे जो भी घरेलू चीजों का प्रयोग करते हैं वह सब पर्यावरण हितैषी होते हैं। खराब हो जाने के बाद फेंके जाने के पश्चात भी प्रकृति को किसी तरह से दूषित नहीं करते। प्रकृति में जो कुछ उपलब्ध है उससे ही वे लोग अपना काम चला लेते हैं। भोजन करने के लिए केले के पत्तों का प्रयोग, बाँस में खाना पकाना, घरेलू चीजें जैसे - टोकड़ी, सूप आदि यह सब बाँस के बने होते हैं या फिर पेड़ को काटकर बनाए जाते हैं। ये सारी चीजें प्रकृति के लिए हानिकारक और दूषित नहीं होती हैं। खराब होकर फेंके जाने के बाद भी आसानी से मिट्टी के साथ मिल जाती हैं।

पारंपरिक कृषि पद्धतियाँ और प्राकृतिक संरक्षण में योगदान:

रियांग पूर्वोत्तर भारत के असम, मिजोरम और त्रिपुरा राज्यों के मूल निवासी हैं। बहुसंख्या में यह लोग त्रिपुरा राज्य में रहते हैं। 2011 के जनगणनानुसार त्रिपुरा राज्य में उनकी जनसंख्या 1,88,220 थी। त्रिपुरा राज्य की जनजातियों में द्वितीय बहुसंख्या वाला समुदाय माना जाता है। इस समुदाय के लोग त्रिपुरा, असम, मिजोरम राज्य के अलावा पड़ोसी देश बर्मा तथा बांग्लादेश में भी कई हजार वर्षों से निवास करते आए हैं। रियांग मूल रूप से अर्ध खानाबदोश जनजाति के रूप में जाना जाता है, जो हजारों वर्ष पहले पहाड़ी ढलानों पर झूम खेती करके जीते आए हैं। रियांग जनजाति समुदाय के लोग केवल पशुपालन एवं शिकार पर निर्भर न होकर उसके अतिरिक्त झूम खेती भी करते हैं। प्राचीन काल से यह आर्थिक एवं अपने परिवार को पालने का एक मात्र साधन रहा है। यह झूम खेती जंगल के पहाड़ी इलाके को साफ़ करके उस स्थान को आग द्वारा अच्छी तरह से जलाकर फसलों को उगाया जाता है। इस कार्य में परिवार के प्रत्येक सदस्य बच्चों को छोड़कर युवा-बुजुर्ग, स्त्री-पुरुष सभी एक साथ मिलकर ढोल

एवं वंशी बजाकर ऊँचे स्वर में लोक-गीत गाते हुए बीज बोते हैं और निराई आदि भी इस तरह किया जाता है। गीतों की लय, ढोल एवं वंशी की धुन के साथ काम करने से परिश्रम होने का पता नहीं चलता है और अधिक मात्रा में काम करने में सक्षम हो जाते हैं। झूम खेती को करने के लिए कुछ आवश्यक सामग्रियों के नाम है - चेख़ा (दराँती), डाखुंठा (एक प्रकार का छुरा), 'चिंगपाई' पुरुष के लिए एवं 'काईस्नी' महिलाओं के लिए (एक प्रकार की छोटी सी टोकड़ी जहाँ पर बीजों को डालकर व्यक्ति अपने कमर पर बाँधकर उसमें से मुट्ठी भर बीज ले-लेकर खेत में बोते हैं। मुख्य रूप से झूम खेती के लिए उस स्थान को ज्यादा महत्व दिया जाता है जहाँ पर अधिक मात्रा में बाँस का जंगल हो, उस स्थान को इसलिए ज्यादा महत्व दिया जाता है क्योंकि उन बाँसों को काटने में कम मेहनत लगती है और जब यह काटे गए सारे पत्ते पूरी तरह सूख जाते हैं तब, अच्छी तरह से सभी आस-पास के पेड़-पौधे को भी जलाकर राख बना देने के साथ ही साथ भूमि की ऊपरी हिस्सा को भी जला देते हैं। इसके जल जाने से भूमि में पैदावार की क्षमता बढ़ जाती है और अच्छे फसल की प्राप्ति होने की संभावनाएँ अधिक हो जाती है। इसके साथ वे लोग प्राचीन मान्यता और अपने रस्म-रिवाजों का भी पालन करते हुए झूम खेती की प्रक्रिया को आगे ले जाते हैं।

सबसे पहले झूम खेती को करने के लिए स्थान का चयन करना बहुत ही अवश्यकत होता है। स्थान का चयन जनवरी-फरवरी महीने के बीच में ही किया जाता है। किसी व्यक्ति द्वारा झूम खेती के लिए स्थान को चयन कर लेने के पश्चात्, उस व्यक्ति द्वारा उसी स्थान में 'वाखार' (बाँस का बनाया गया एक प्रकार का चिह्न का प्रतीक) मिट्टी में गाड़कर रखा जाता है। यह इसलिए किया जाता है ताकि कोई भी व्यक्ति इस चिह्न को देखकर यह समझ जाए कि इस स्थान को झूम खेती हेतु एक साल के लिए किसी व्यक्ति द्वारा चयन कर लिया जा चुका है। उसके बाद बाँस के एक टुकड़े को चीर कर ईश्वर को आह्वान करते हुए जमीन पर तीन बार फेंका जाता है। तीन बार में से कम से कम दो बार ये दोनों टुकड़े एक दूसरे की विपरीत होना अनिवार्य है। इस प्रक्रिया को 'पार-का-नाईमो' कहते हैं। जब ये दो टुकड़े एक दूसरे की विपरीत न होकर एक जैसे होते हैं तब अशुभ संकेत माना जाता है एवं ऐसा होने पर इस स्थान को छोड़ कर कोई दूसरे स्थान पर जाकर फिर से यह प्रक्रिया करके परखा जाता है। यदि सब कुछ ठीक रहा तो चुने गए स्थान में से केंचुए की मिट्टी को उठाकर अपने घर में ले जाकर उसको छोटे टुकड़ों में बाँटकर परिवार के सभी सदस्यों को दिया जाता है। ऐसी मान्यता है कि यदि इस केंचुआ की मिट्टी को सोते समय तकिया के नीचे रखकर सोते हैं तो चुनी गई झूम खेती से संबंधित स्थान का अच्छा अथवा बुरा संकेत सपनों में दिखाया जाता है। इन सपनों के द्वारा यदि उनको अच्छा संकेत मिलता है तो उस स्थान को सफाई करना प्रारंभ करके आगे की प्रक्रिया शुरू कर देते हैं यदि अशुभ संकेत मिलने लगते हैं तो उस स्थान को छोड़कर अगले स्थान के लिए आगे बढ़ते हैं। इस प्रकार एक बार स्थान का निश्चित हो जाने के बाद एक साल के लिए स्थाई रूप से खेती करते हैं। फिर समय आने पर अगले साल के लिए नई उचित स्थान खोजकर स्थानांतर कर उसमें खेती करने लगते हैं। यह सिलसिला प्रत्येक साल चलता रहता है। इस प्रकार उनका स्थान भी अस्थायी रहता है जिसके कारण उनको बाद में कई समस्याओं का सामना भी करना पड़ता है।

स्थान का चयन हो जाने के बाद जंगलों को काटकर साफ़ कर दिया जाता है। फिर कुछ दिनों बाद जब काटे गए पत्ते सुख जाते है तो उसमें आग लगाकर जलाया जाता है यह कार्य फागुन-चैत्र महीने के बीच किया जाता है। जब यह सारे पत्ते सुखकर पेड़ से गिर जाते है और वर्षा न होने के कारण चारों ओर सुखा पड़ा होता है। सब कुछ जल जाने के पश्चात् तिल, मिर्ची, खुंद्रूफोइ (झूम की धनिया), ककड़ी, खड़बुजा आदि जैसे बीजों को झूम के चारों ओर छिड़क दिया जाता है। यह सारी प्रक्रिया धान आदि को बोने से पूर्व एवं वर्षा होने से पहले किया जाता है ताकि वर्षा होने से पहले उस बीज में से पत्तियाँ और जड़ निकल कर मिट्टी के साथ मजबूत बन जाए जिससे वे तेज बारिश होने पर भी पानी की बहाव से बह न जाए। इसके बाद धान आदि का बीज बोने से पूर्व उस झूम खेत में देशी शराब और एक मुर्गा को बलि देकर पुजारी के

द्वारा पूजा की जाती है। इस उद्देश्य से यह पूजा की जाती है ताकि उनको भरपूर मात्रा में फसल प्राप्त हो सके और उनके परिवार के सदस्य अनजान रोगों से मुक्त रहें और हमेशा की तरह स्वस्थ रहें। उसके बाद अप्रैल महीने में धान जैसे आदि बीजों को बोया जाने के बाद बारिश होने के कारण जब घास खेतों के बीच बड़ा हो जाते हैं, तब उसकी पहली निराई की जाती है जिसको 'हाग्रा-तांगमो' कह जाता है और दुबारा जब फिर से बड़ा होकर निराई की जाती है उसको 'माई-यागु' कहा जाता है। इसी प्रकार जब पुनः तीसरी और चौथी बार निराई की जाती है तब उसको 'कारामी' और 'खुलमाऊमी' कहते हैं। अपने खेत के फसलों को जंगली पशु-पक्षियों से संरक्षित रखने के लिए और गाँव से आने-जाने का परिश्रम तथा समय का बचाव के लिए झूम खेत के ऊंची पहाड़ी ढलान पर बाँस का 'काईरेंग' (झोपड़ी) बनाकर रखते हैं, जिससे तेज बारिश, धूप एवं क्लांति से स्वयं को बचाने के लिए उसमें विश्राम करते हैं। जब सब फसलों पर फूल और फल आ जाते हैं, तब उसकी देखभाल के लिए फसलों को काटने वक्त तक उनके गाँव से आकर उस झूम की झोपड़ी में रहने लगते हैं जिससे वे दिन-रात अपने फसलों को जंगली जीवों से रक्षा कर सके। इस प्रक्रिया को रियांग भाषा में 'हाचौक कामो' कहा जाता है। यह झूम खेती पहाड़ी इलाकों में किए जाने के कारण सिंचाई की व्यवस्था नहीं होती थी। जब बारिश न होने के कारण खेतों में सूखा पड़ता है तो उनकी प्राचीन मान्यता के अनुसार 'चेः-चेःमा' नामक टिड्डी को जीवित पकड़ कर उसका सिर को नीचे की ओर रखकर मिट्टी के अंदर दफनाया जाता है। उनका मानना है कि ऐसा करने से बारिश होती है।

जब किसी फसलों में परिपक्वता आ जाती है तब सबसे पहले 'आमोंग-माईक्तामा' (धान की देवी) को चढ़ाते हैं, उसके बाद ही वे उन फसलों का ग्रहण करते हैं। देवी के साथ-साथ वह सारे चीजें जिससे हम अपने जीवन शैली में या झूम खेती करने में जिन सामग्रियों का उपयोग करते हैं जैसे चेख्रा (दराँती), नौखाई, चेंगपाई, बाइलेंग (सूप), डाखुंठा (छुरा) आदि के प्रति भी श्रद्धा भाव दिखाते हुए इन फसलों का भोग चढ़ाए जाते हैं। इस प्रक्रिया को 'माईक्ता चामी' कहते हैं। जिसका अर्थ है नई धान का भोजन करना। जब लगभग सारी फसलें काटकर अपने गाँव में ले जाया जाता है, तब प्राचीन काल में समुदाय के मुखिया अपने घर में दिन के समय देवी 'माईनौकमा' (लक्ष्मी) के प्रति श्रद्धा भाव दिखाने व फसलों की प्राप्ति के लिए आभार व्यक्त करने के लिए उसकी पूजा करते हैं और उस एक दिन के लिए भोज भी रखते हैं। उसमें गाँव के सभी लोगों को निमंत्रण दिए जाते हैं। पूरा दिन भोजन खिलाने के बाद शाम से भोर होने तक कई प्रकार के लोक-नृत्य प्रदर्शन किए जाते हैं। इसके द्वारा लोगों का मनोरंजन किया जाता हैं। उस रात्रि को ही 'होजागिरी' के नाम से जाना जाता हैं, जो आज भी यह नृत्य केवल समुदाय के बीच तक सीमित न रहकर पूरे विश्व स्तर पर प्रसिद्ध है। मुख्य रूप से यह त्योहार अक्टूबर-नवंबर के महीने में हर साल भारत के पूर्वोत्तर राज्यों के छोटे से राज्य त्रिपुरा में दो दिन के लिए आयोजन किया जाता है। उस रात समुदाय के सभी लोग एक साथ मिलकर नाचते-गाते हैं। उनके लोक-गीत तथा लोक-नृत्य में उनके दैनिक जीवन शैली को मुख्य बिन्दु बनाकर प्रदर्शन किया जाता हैं। जैसे - झूम खेतों में काम करना, रुई से धागा बनाना, कपड़ा बुनना, फूल तोड़कर पूजा पाठ करना आदि को नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत की जाती हैं। इस समुदाय के लोग अपने दैनिक जीवन में जो कुछ भी उपयोग करते हैं उन सभी प्राकृतिक चीजों से बना होता है। अपना भोजन पकाने के लिए या तो घड़े का उपयोग करते हैं या तो बाँस का, पानी भरकर रखने के लिए लंबे बाँस एवं 'टोईलाऊ' (पानी भरने के लिए सुखाकर बनाया गया खोखला लौकी) में रखते हैं। चावल को केले के पत्तों से बाँधकर रखे जाते हैं और उसमें भोजन भी किया जाता है। इनके अलावा उनके द्वारा घरों में प्रयुक्त की जानेवाली वह सारे चीजें भी बाँस से बनाया गया हस्तशिल्प भी प्रकृति को किसी भी तरह के दूषित नहीं करते हैं।

आधुनिक चुनौतियाँ:

प्राचीन समय में प्रकृति में किसी प्रकार का प्रदूषण नहीं होता था। मिट्टी की उपजाऊ शक्ति भी आधिक मात्रा में थी और इस कारण पर्याप्त मात्रा में फसल प्राप्त हो जाती थी। पर वर्तमान समय में प्रकृति इतना आधिक प्रदूषित हो चुकी है

कि बिना रसायनिक दवाई के प्रयोग से कुछ भी अच्छा नहीं होता और न चाहते हुए भी आधिक मात्रा में उत्पादन प्राप्त करने तथा भूमि की उपजाऊ क्षमता को और आधिक बढ़ाने के लिए इसका प्रयोग करना अनिवार्य हो गया है। जिससे मिट्टी की प्राकृतिक उपजाऊ क्षमता प्रभावित हो रही है। तेज बारिश होने पर फसलों अथवा मिट्टी पर छिड़की गई यह दवाई नदी-नालों में बहकर नदी के पानी को भी दूषित बना देती है और पानी में रहने वाले सभी जीवों को हानी पहुंचाती है। इस प्रकार हमारी प्रकृति प्रदूषित हो रही है। अपनी प्रकृति को सुरक्षित रखने के लिए किसी प्रकार के रसायनिक पद्धति से बनाए गए खाद या दवाई के स्थान पर भूमि की उपज क्षमता बढ़ाने के लिए अधिक मात्रा में गोबर का प्रयोग करना चाहिए, जिससे प्रकृति भी सुरक्षित रहेगी और फसलों के उत्पादन भी कई गुणा बढ़ेगा। इस पद्धति को अपनाते हुए धीरे-धीरे दूषित प्रकृति और परिवेश को भी हम संतुलन में ला सकते हैं।

निष्कर्ष:

प्रकृति पर निर्भर रियांग समुदाय के लोग प्रकृति को दैवीय शक्ति के रूप में पूजते आए हैं। उनकी कृषि पद्धति बहुत ही सहज और सरल है। वे भूमि की उपज को और अधिक बढ़ाने के लिए जंगली बाँस आदि को काटकर उसे अच्छी तरह से सुखाकर जला देते हैं जिसके जलने से जो राख बन जाता है उससे फसलों की अच्छी उपज होती है। इस प्रकार प्राकृतिक तरीके से भूमि को उपजाऊ बनाकर फसल उत्पादन करना स्वास्थ और प्रकृति के लिए भी लाभदायक होता है। रियांग जनजाति झूम खेती के अंतर्गत जिस भूमि पर खेती करते हैं, वहाँ एक वर्ष तक फसल लेने के बाद वे उस स्थान को पाँच-छह वर्षों के लिए खाली छोड़ देते हैं। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि भूमि की उर्वरक क्षमता पुनः बढ़ सके और उस पर प्राकृतिक रूप से पेड़-पौधे फिर से उग सकें। इस प्रकार वे खेती और पर्यावरण के बीच संतुलन बनाए रखते हैं। जिसके कारण आज जैसे आधुनिक समय में भी गाँव में रहने वालें इस समुदाय के लोग रबड़ और प्लास्टिक द्वारा बनाए गए चीजों का बहुत ही कम प्रयोग करते हैं। केवल इतना ही नहीं, कीटनाशक के प्रयोग से उत्पादित शाक-सब्जियाँ जो बाजार में बिकती है वह तक नहीं खाते हैं। उससे बेहतर वे चावल में पानी डालकर खाना पसंद करते हैं। जिसके कारण वे शहर में रहने वालों से ज्यादा स्वास्थ और लम्बा जीवन जीते हैं। केवल हम ही लोग हैं, जो शिक्षित और सब कुछ जानते हुए भी प्रकृति को संरक्षित करने की बजाय और आधिक दूषित करते हैं। इसलिए जितना हो सके हमें प्रकृति संरक्षण करने के बारे में सोचना चाहिए और जो पर्यावरण के लिए हानिकारक है, हमें उन चीजों और आदतों को त्यागने की आवश्यकता है ताकि आनेवाली पीढ़ी को एक स्वस्थ एवं सुंदर धरती दे सकें।

संदर्भ ग्रंथ:

(1). Gan Chaudhuri, Dr. Jagadish. "The Riang of Tripura". Tribal Research & Cultural Institute Govt. Of Tripura,1st Edition 18-07-1983, 2nd Edition August, 2011

(2). Reang, Dr. Lincoln. "History Of The Reang (Bru)". EBH Publisher (India), 2021, www.easternbookhouse.in

साक्षात्कार:

1. धन्यराम रियांग, आयु-44, गॉव-उड़ीच्छेड़ा (ब्रू-पाड़ा) कंचनपुर उत्तर त्रिपुरा।

****

लोककथाओं और लोकगीतों में प्रकृति

अंजलि प्रसाद
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय,
शिलांग
दूरभाष - 9525802335

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति की जड़ें गाँवों, खेतों, तालाबों और अरण्यों में गहराई तक फैली हुई हैं। लोकजीवन का सबसे बड़ा आधार प्रकृति रही है। प्रकृति ने मानव को न केवल जीवन के साधन उपलब्ध कराए हैं, बल्कि उसकी भावनाओं, उसकी कल्पना और उसकी संवेदना को भी आकार दिया है। यही कारण है कि लोककथाओं और लोकगीतों में प्रकृति का व्यापक चित्रण मिलता है। ये लोक अभिव्यक्तियाँ केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि जीवन-दर्शन, सामाजिक मूल्य और सांस्कृतिक चेतना का वाहक भी हैं।

लोककथाओं में प्रकृति का स्थान

लोककथाएँ मौखिक परंपरा की वह धरोहर हैं, जिनमें ग्रामीण जीवन और उसके परिवेश का यथार्थपूर्ण प्रतिबिंब मिलता है। इनमें प्रकृति एक पृष्ठभूमि मात्र नहीं है, बल्कि सक्रिय पात्र के रूप में उपस्थित रहती है।

वन और वृक्ष - कई लोककथाएँ जंगलों की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। नायक-नायिका का मिलन, संकट से मुक्ति या चमत्कारी घटनाएँ प्रायः वृक्षों, झाड़ियों और पर्वतों के बीच घटित होती हैं। उदाहरणस्वरूप, राजस्थान की कथाओं में खेजड़ी का वृक्ष जीवन-रक्षक के रूप में आता है।

नदी और जलस्रोत- नदियाँ लोककथाओं में जीवनदायिनी शक्ति के रूप में प्रकट होती हैं। कई कथाओं में नदी पार करना परीक्षा की घड़ी होती है। बंगाल की कथाओं में गंगा नदी को माँ का रूप दिया गया है।

पशु-पक्षी- लोककथाओं में पशु-पक्षी केवल सहचर नहीं बल्कि ज्ञान और मार्गदर्शन देने वाले भी हैं। पंचतंत्र और जातक कथाएँ इसका सशक्त उदाहरण हैं। इनमें पक्षियों और पशुओं को मानवीय गुणों से युक्त करके जीवन-शिक्षा दी गई है।

ऋतु-चक्र – कई लोककथाएँ ऋतु-परिवर्तन के इर्द-गिर्द बुनी गई हैं। वर्षा, ग्रीष्म और शीत ऋतु के संदर्भ में कथाओं के पात्र अपनी तकदीर और संघर्ष का निर्धारण करते हैं।

उदाहरण

हीर-रांझा (पंजाब की लोककथा) में नायक-नायिका की व्यथा का चित्रण सरसों के खेतों और पंजाब की हरित भूमि से जुड़ा है।

ससुराल गेंदा फूल जैसी कहावतों वाली कथाएँ ग्रामीण जीवन के पौधों और फसलों से अभिन्न रूप से संबंधित हैं।

इस प्रकार लोककथाएँ यह दर्शाती हैं कि मानव ने अपने परिवेश और प्रकृति को न केवल देखा बल्कि उसे जीवन के हर प्रसंग से जोड़ा।

लोकगीतों में प्रकृति की अभिव्यक्ति

लोकगीत भारतीय समाज की आत्मा हैं। ये गीत खेती-बाड़ी, विवाह, जन्म, उत्सव, श्रम और ऋतु-परिवर्तन के अवसरों पर गाए जाते हैं। इनमें प्रकृति का चित्रण अत्यंत जीवंत और संवेदनशील रूप से हुआ है।

कृषि और ऋतु-गीत

कृषि-प्रधान समाज में वर्षा और ऋतु का विशेष महत्व है। बरसात के गीतों में मेघ, बिजली, आकाश और खेतों का उल्लेख बार-बार आता है। उत्तर भारत में महिलाएँ कजरी गाती हैं, जिसमें सावन की हरियाली, मेघों की गरज और प्रियतम से मिलने की लालसा का चित्रण होता है। बिहार और पूर्वांचल में साम चकेवा का पर्व पक्षियों और मौसम से जुड़ा है।

पर्व-त्योहार के गीत

होली, दीपावली, छठ, बसंत पंचमी जैसे अवसरों पर गाए जाने वाले गीतों में फूलों, नदियों, सूर्योदय और चंद्रमा का सुंदर चित्रण मिलता है। छठ गीतों में सूर्योदय और अस्ताचल गामी सूर्य को प्रणाम किया जाता है। गंगा और कोसी जैसी नदियों का विशेष उल्लेख होता है। बसंत गीतों में आम्र-मंजरियों और कोयल की कूक से ऋतु का स्वागत होता है।

प्रेम और विरह के गीत

लोकगीतों में प्रेम और विरह का चित्रण प्रायः प्रकृति के माध्यम से किया गया है। बिरहा गीतों में नायिका अपने प्रिय के वियोग को बादलों, पवन और चाँद से संबोधित करके व्यक्त करती है। राधा-कृष्ण से जुड़े लोकगीतों में यमुना तट, वृंदावन के वन और बांसुरी की ध्वनि प्रेम की पृष्ठभूमि बनते हैं।

श्रम और उत्साह के गीत

खेती, बुनाई, चरवाही या नाविकों के गीतों में भी प्रकृति झलकती है। नाविक अपने गीतों में नदी, नाव और लहरों से संवाद करते हैं। चरवाहे बाँसुरी बजाते हुए गाय-भैंसों के साथ खेत-खलिहान का वर्णन करते हैं।

उदाहरण

भोजपुरी कजरी: ''सावन के झूला पड़े, बदरा गरजत आए'' – यहाँ बादल और वर्षा विरह और मिलन की संवेदना का माध्यम बनते हैं।

राजस्थानी ''पधारो म्हारे देश'' गीत में रेगिस्तान, हवाएँ और ऊँट की चाल प्रकृति के प्रतीक हैं।

प्रकृति के प्रतीक और सांस्कृतिक अर्थ

लोककथाओं और लोकगीतों में प्रकृति केवल दृश्य-सौंदर्य का साधन नहीं बल्कि सांस्कृतिक प्रतीक भी है। जैसे -

वृक्ष – जीवन, स्थायित्व और आस्था का प्रतीक।

नदी – पवित्रता और मातृत्व का प्रतीक।

सूर्य – जीवनदायिनी शक्ति और तप का प्रतीक।

चाँद – सौंदर्य, शीतलता और प्रेम का प्रतीक।

पशु-पक्षी – सरलता, छल, बुद्धिमत्ता और साहस के प्रतीक।

अतः आज जबकि शहरीकरण और आधुनिकता ने प्रकृति से दूरी बढ़ा दी है, लोककथाएँ और लोकगीत हमें हमारे मूल से जोड़ते हैं। ये हमें याद दिलाते हैं कि जीवन की सच्ची अनुभूति प्रकृति के साथ सामंजस्य में ही संभव है। साथ ही, पर्यावरण संरक्षण की चेतना को भी यह परंपरा अप्रत्यक्ष रूप से बल देती है।

लोककथाओं और लोकगीतों में प्रकृति केवल सजावट नहीं बल्कि जीवन-दर्शन का आधार है। यह लोकमानस की सहज अभिव्यक्ति है, जिसमें खेत, नदी, पेड़, पक्षी और ऋतु-चक्र मानव जीवन के साथी बनकर उपस्थित रहते हैं। इनसे हमें न केवल सांस्कृतिक पहचान मिलती है, बल्कि यह पर्यावरणीय संतुलन और सामूहिक जीवन के महत्व की भी शिक्षा देते हैं। □□

पूर्वोत्तर भारत की लोकपरंपराओं में प्रकृति पूजा

ज्योति पाल (आचार्या)
शंकरदेव शिशु निकेतन, रंगिया
दूरभाष - 9101901697

आदि काल से लोग प्रकृति को पूजते है। हमारे देश के अति प्राचीनत्तम सिंधु सभ्यता में भी प्रकृति को माँ के रूप में पूजते थे। सिंधु सभ्यता में वट, पीपल के पेड़ को पूजते थे और साथ ही बाघ, हाथी, गाय को पूजते थे। हमारे पूर्वोत्तर भारत की लोकपरंपरा और प्रकृति पूजा प्रसिद्ध है। पूर्वोत्तर प्रदेशों में असम, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा, मेघालय, मिजोरम, सिकिम तथा अरुणाचल प्रदेश प्रमुख हैं। इन आठ प्रदेशों को भाई-बहनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन प्रदेशो के अपनी-अपनी सांस्कृतिक धरोहर, अद्भुत लोक परम्पराओं और प्रकृति के प्रति गहरे लगाव के लिए प्रसिद्ध है। इन्हीं प्रदेशों की भौगोलिक पर्यावरण की स्थिति, घने जंगल, झरने, नदियाँ और पर्वत-पहाड़ यहाँ के निवासियों की जीवनशैली को प्रभावित करते आए हैं। इसी वजह से इन आठ राज्यों की लोक संस्कृति और धार्मिक विश्वास प्रकृति से जुड़े हुए हैं।

प्रकृति जीवन का आधार :

पूर्वोत्तर भारत का समाज मूलत: आदिवासी और ग्रामीण प्रकृति का है। यहाँ की जनजातियाँ सदियों से जंगलों, नदियों और पहाड़ों के बीच रहकर इन्ही को अपना जीवनदाता मानती रही हैं। खेती, शिकार, मत्स्य पालन और वनोपज पर आधारित उनकी अर्थव्यवस्था ने उन्हें प्रकृति के साथ संतुलित जीवन जिना सिखाया। मान्यता है कि वृक्ष, नदियाँ, सूर्य, पर्वत, पशु-पक्षी और आकाशीय तत्त्व केवल भौतिक संसाधन नहीं, बल्कि जीवंत शक्तियाँ है। यही कारण है कि वे इन्हें देवतुल्य मानकर पूजा करते हैं। यह प्रकृति पूजा न केवल धार्मिक विश्वास है, बल्कि पर्यावरण संरक्षण का भी एक अनूठा रूप है।

लोक परम्परा और त्योहार :

पूर्वोत्तर भारत की प्रत्येक जनजाति का अपना विशेष लोक-त्योहार और अनुष्ठान हैं, जिनका मूल आधार प्रकृति और कृषि है।

i) बिहू (असम): असम का सबसे प्रसिद्ध लोक-त्योहार बिहू तीन रूपों में मनाया जाता है - रंगाली बिहू (वैशाख), कंगाली बिहू (काति) और भोगाली बिह (पौष, माघ)। रंगाली बिहू कृषि – वर्ष की शुरुआत का प्रतीक है और इसमें धरती माता, बैल तथा बीज- बोआई के समय प्रकृति की आराधना की जाती है।

ii) म्योक (अरुणाचल प्रदेश): अपातानी जनजाति का प्रमुख उत्सव 'म्योक' है। इसमें सामुदायिक स्वास्थ्य, खुशहाली और फसलों की समृद्धि के लिए प्राकृतिक शक्तियों की पूजा की जाती है।

ii) वंगला (मेघालय): गारो जनजाति का यह पर्व 'सौ ड्रमों का उत्सव' कहलाता है। इसमें फसल कटाई के उपलक्ष्य में सूर्य देवता और धरती माता का आभार व्यक्त किया जाता है।

iv) हॉर्नबिल फेस्टिवल (नागालैंड): नागा जनजातियों का यह महोत्सव न

केवल लोकनृत्य और संगीत का प्रदर्शन है, बल्कि पक्षियों, विशेषकर हॉर्नबिल पक्षी के प्रति आदर का भी प्रतीक है।

v) चेराव नृत्य (मिजोरम): बाँसों के सहारे किया जाने वाला यह नृत्य प्रकृति और सामूहिक श्रम- संस्कृति का प्रतीक है।

vi) लामसोंग और याओशंग (मणिपुर): ये त्योहार कृषि और मौसम परिवर्तन से जुड़े हैं, जिनमें जल, अग्नि और वायु की पूजा की जाती है।

vi) गंगोर और खेराई (त्रिपुरा): यहाँ की जनजातियाँ वनों और झरनों को देवी का रूप मानकर पूजा करती है।

vii) लोसंग (सिकिम): यह त्योहार सिक्किम के भूटिया समुदाय का नववर्ष है, जो फसल कटाई के समय मनाया जाता है। साकेवा त्योहार किरात खंबू राय समुदाय द्वारा मनाया जाता है, जो धरती माता को श्रद्धांजलि देने के लिए मनाया जाता है।

प्रकृति देवता और धार्मिक आस्था:

पूर्वोत्तर भारत की विभिन्न जनजातियों में देवताओं की अवधारणा भी प्रकृति-आधारित है।

• अरुणाचल प्रदेश की अनेक जनजातियाँ सूर्य और चन्द्र को मुख्य देवता मानती है।

• मिजोरम के मिजो लोग पहाड़ और नदियों में आत्माओं का वास मानते हैं।

• नागालैंड की आओ और सेमा जनजातियाँ आकाशीय देवता और धरती माता की पूजा करती हैं।

• मेघालय के खासी लोग 'नॉगक्रेम नृत्य' के माध्यम से देवी काइन या धरती माता का आह्वान करते हैं।

• असम में 'कामाख्या देवी' की पूजा प्रजनन शक्ति और प्रकृति के चक्र से जुड़ी है।

इन मान्यताओं में यह विश्वास झलकता है कि मानव अकेले नहीं बल्कि प्रकृति के साथ मिलकर ही जीवित रह सकता हैं।

लोकगीत और लोकनृत्य :

प्रकृति पूजा केवल धार्मिक तक सीमित नहीं, बल्कि गीत, नृत्य और कथाओं के माध्यम से भी प्रकट होती है। असम के बिहू गीत हों या नागालैंड के युद्ध-नृत्य, मणिपुर के शास्त्रीय रासलीला हों या गारो जनजाति का ढोल–वादन सभी में नदियों, वनों, फूलों, चाँद-सूरज और ऋतुओं का वर्णन मिलता है। लोककथाओं में अक्सर यह संदेश मिलता है कि यदि मानव प्रकृति का अनादर करेगा तो आपदा आएगी। ये कथाएँ बच्चों और युवाओं को प्रकृति-सम्मान का संस्कार देती हैं।

पर्यावरण संरक्षण में लोक आस्था की भूमिका :

आज जब पूरी दुनिया पर्यावरण संकट का सामना कर रही है, तब पूर्वोत्तर भारत की लोक परम्पराएं हमें सिखाती हैं कि प्रकृति का आदर ही उसके संरक्षण का आधार है। यहाँ के लोग पेड़ काटने से पहले पूजा करते है।

कुछ गांवो में 'पवित्र उपवन' (Sacred Groves) संरक्षित किए जाते हैं, जहाँ पेड़ काटना या शिकार करना वर्जित है।

जल स्त्रोतों को देवी-देवता का रूप मानकर उनकी स्वच्छता बनाए रखते हैं।

इस प्रकार उनकी लोक आस्थाएँ आधुनिक पर्यावरण-संरक्षण की विचारधारा से कहीं अधिक गहरी और आत्मीय हैं।

आधुनिकता और चुनौतियाँ :

हालाँकि, समय के साथ आधुनिक शिक्षा, शहरीकरण और बाहरी प्रभावों ने इन परम्पराओं को चुनौती दी है। नए-नए धार्मिक विचार, उपभोक्तावादी संस्कृति और प्राकृतिक संसाधनों का व्यवसायीकरण लोक परम्पराओ को प्रभावित कर रहे हैं। फिर भी, आज भी अधिकांश जनजातियाँ अपनी परम्पराओं को जीवित रखे हुए हैं। सरकारी स्तर पर भी त्योहारों को "फेस्टिवल टूरिज्म" के रूप में प्रोत्साहित किया जा रहा है, जिससे संस्कृति के साथ-साथ स्थानीय अर्थव्यवस्था को भी सहारा मिल रहा है।

निष्कर्ष :

पूर्वोत्तर भारत की लोक परम्पराएँ केवल रीति-रिवाज नहीं, बल्कि जीवन दर्शन हैं। प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व का यह दर्शन हमें यह सिखाता है कि मानव का अस्तित्व प्रकृति से अलग नहीं हो सकता। यहाँ की जनजातियों ने हजारों वर्षो तक प्रकृति को माता, पिता और देवता मानकर पूजा की और उसे संरक्षित रखा। आज के युग में जब पर्यावरण संकट बढ़ता जा रहा है, तब पूर्वोत्तर भारत की यह लोक -परम्परा और प्रकृति पूजा हमें एक संदेश देती है-

"प्रकृति का आदर ही मानवता का अस्तित्व है।" □□

लोककथा और लोकगीतों में प्रकृति

मनमणि शर्मा, प्रधानाचार्या
शंकरदेव शिशु निकेतन, मिलनपुर, तेजपुर
दूरभाष - 8638246202

यह विषय अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसे अब गंभीरता से लेने का समय आ गया है। प्रकृति के बदलते स्वरूप और भूमंडलीय परिवर्तन ने मानव समाज को गहरी चिंता में डाल दिया है। आज चारों ओर पर्यावरण और प्रकृति की रक्षा को लेकर लोगों में जागरूकता देखी जा रही है। सबको यह समझ में आने लगा है कि यदि प्रकृति और पर्यावरण संतुलित रहेंगे, तभी इस पृथ्वी पर जीवन सुरक्षित रह पाएगा। इसलिए अब आवश्यक है कि हम इन विषयों पर गहराई से विचार करें, प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा के लिए सभी नियमों का पालन करें और समाज को भी इसके लिए प्रेरित करें।

मानव समाज आधुनिकता की ओर बढ़ते-बढ़ते अनेक परंपराएँ छोड़ चुका है, जो कभी लोगों के जीवन का अभिन्न हिस्सा हुआ करती थीं। लोककथा और लोकगीत भी ऐसी ही परंपराएँ हैं। लोककथा और लोकगीतों में प्रकृति का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। ये दोनों मौखिक परंपरा के अंग हैं। प्राचीन समय में इनका व्यापक प्रचलन था और लोग इनमें वर्णित कथाओं व गीतों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार भी करते थे।

लोककथाओं में प्रकृति को पात्रों, घटनाओं और संदेशों के रूप में चित्रित किया जाता है, जबकि लोकगीतों में प्रकृति सौन्दर्य, प्रेरणा और भावनाओं का स्वरूप धारण करती है। लोककथाओं के पात्रों को लोग वास्तविक मानते थे, इसलिए उनके प्रति हानि पहुँचाने का विचार तक नहीं करते थे। इसी प्रकार लोकगीतों में जब प्रकृति के सौन्दर्य और भावनाओं का चित्रण होता था, तो लोग उसमें इस प्रकार विलीन हो जाते थे कि जीवन की सुंदरता भी उन्हें उसी में दिखाई देने लगती थी। पर्वत, पहाड़, नदी-नाले, पेड़-पौधे आदि को लोग भगवान मानते थे और भला कौन अपने भगवान को नुकसान पहुँचा सकता है?

लोककथा और लोकगीतों में मनुष्य और प्रकृति के बीच गहरा संबंध परिलक्षित होता है। उदाहरणस्वरूप, लोककथाओं में एक पेड़ को नायक के रूप में चित्रित किया जाता है। लोककथा केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि समाज की संस्कृति और इतिहास का भी अभिन्न अंग है। इनमें नैतिक शिक्षा, जीवन-मूल्य तथा सामाजिक अनुभवों का सजीव वर्णन मिलता है। लोककथाएँ प्रकृति के महत्व, पर्यावरण संरक्षण और मनुष्य–प्रकृति संतुलन के संदेश को प्रमुखता से प्रस्तुत करती हैं। इन कथाओं में प्रकृति से जुड़ी घटनाएँ जैसे बारिश, बाढ़, सूखा, आंधी आदि विशेष महत्व रखती हैं। उदाहरण के लिए, सूखे के समय

स्थानीय लोग विशेषकर पुरुष खेतों में 'बाघ धनुष' नामक वाद्य बजाते हैं। उनका विश्वास है कि इसके स्वर से वर्षा होती है। इसी प्रकार, लोक-मान्यता के अनुसार हमारे क्षेत्र में वर्षा की कामना हेतु मेंढक का विवाह रचाया जाता है। ऐसी कई लोककथाएँ मौखिक परंपरा के रूप में आज भी प्रचलित हैं, जिनका उद्देश्य वर्षा को रिझाना होता है।

इसी प्रकार, विपरीत मौसम से बचने या किसी प्राकृतिक आपदा को दूर करने के लिए ताड़ के पत्ते पर मंत्र लिखकर घर के बरामदे के ऊपर टाँगा जाता है। ऐसा माना जाता है कि इससे पूरा वर्ष घर सुरक्षित रहता है। पानी, पेड़-पौधों, मंत्रों तथा प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से लोककथाएँ किसी न किसी रूप में जुड़ी रही हैं।

प्रसिद्ध विद्वान बिरिंचि कुमार बरुआ के अनुसार—

''लोककथा समाज की सार्वभौमिक रचना है। यह समाज की सोच-विचार और कल्पना का मिलन-स्थल है। यह समाज के लिए मनोरंजन का साधन होने के साथ-साथ शाश्वत और चिरस्थायी लोकसाहित्य के रूप में सदियों से जन-जन के जीवन में विद्यमान रही है।''

लोककथाओं में प्राकृतिक घटनाओं जैसे बारिश, हवा, भूकंप आदि का वर्णन मिलता है। ये कथाएँ न केवल प्राकृतिक आपदाओं का चित्रण करती हैं, बल्कि उनसे उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों और उनके प्रभावों के बारे में भी महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं। लोककथाएँ मनुष्य और प्रकृति के बीच के गहरे अंतर्संबंधों का वर्णन करती हैं। इनमें प्रकृति के प्रति सम्मान तथा उसके संरक्षण पर विशेष जोर दिया जाता है। लोककथाएँ प्राकृतिक जगत में होने वाली विभिन्न घटनाओं के कारणों और परिणामों की व्याख्या अपने विशिष्ट ढंग से करती हैं। बादलों की गड़गड़ाहट और बिजली के चमकने से जुड़ी पौराणिक कथाएँ इसका एक प्रमुख उदाहरण हैं। असम का प्राकृतिक वातावरण लोककथाओं की कथावस्तु, पात्रों और विषयों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस प्रकार लोककथा और प्रकृति एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं।

लोककथाओं में मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंधों का उल्लेख मिलता है, जिसमें कृषि, पशुपालन और पर्यावरण-जागरूकता जैसी विषयवस्तुएँ प्रमुख रूप से दिखाई देती हैं। इनमें अनेक कहानियाँ प्रकृति की शक्ति, सौन्दर्य और खतरों का चित्रण करती हैं। ऐसी कहानियाँ लोगों को प्रकृति का सम्मान करने और उसके संरक्षण की शिक्षा प्रदान करती हैं। इसी कारण लोककथा और प्रकृति के बीच गहरा संबंध स्थापित होता है। लोककथाएँ प्रकृति से जुड़े ज्ञान और अनुभवों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करती आई हैं। इनमें प्रकृति के विभिन्न तत्व जैसे पेड़, जानवर, नदियाँ, पहाड़ आदि अक्सर पात्रों के रूप में प्रकट होते हैं।

लोककथा की तरह लोकगीतों में भी प्रकृति के सौन्दर्य जैसे फूल, पक्षी, झरने, चाँद और सूरज का सजीव वर्णन मिलता है। वास्तव में प्रकृति ही लोकगीतों को लिखने और गाने की प्रेरणा का मुख्य स्रोत है। लोकगीत खुशी, दुःख, प्रेम और भय आदि मनुष्य की भावनाओं को प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। लोकगीत सुर और लय के साथ गाए जाते हैं तथा इनमें साधारण-सी अनुभूतियों को भी गहराई से व्यक्त किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, असम में प्रचलित बिहू गीतों में प्रकृति का अनुपम चित्रण मिलता है। ये गीत लोकसाहित्य में विशेष स्थान रखते हैं।

बैशाख मास में जब प्रकृति बसन्त ऋतु के स्पर्श से निखर उठती है, तभी रंगाली बिहू का उत्सव मनाया जाता है। बिहू गीत इस उत्सव के साथ रचे-बसे होते हैं और प्रकृति के सौन्दर्य के साथ-साथ हृदय के प्रेम को भी प्रकट करते हैं। इनमें प्रकृति के प्रति गहरा आकर्षण विद्यमान है। इन गीतों में संसार और प्रकृति की सुंदरता का अद्भुत प्रतिबिंब दिखाई देता है। हरे-भरे खेतों, फूलों, पक्षियों और प्राकृतिक दृश्यों का सजीव चित्रण इन गीतों की प्रमुख विशेषता है।

लोकगीतों में सामान्यतः छोटी-छोटी भावनाओं

को अभिव्यक्त किया जाता है। इनमें कभी-कभी आध्यात्मिक स्वरूप भी प्रकट होता है। विशेषकर कामरुपी लोकगीतों में आध्यात्मिकता की गहन छाप देखने को मिलती है। इन गीतों में प्रकृति के मनमोहक दृश्यों, ऋतु-परिवर्तन, पेड़-पौधों और पक्षियों का सजीव वर्णन मिलता है। साथ ही, लोकगीत ग्रामीण जीवन के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षाओं तथा प्रेम-स्नेह को भी प्रतिबिंबित करते हैं।

प्रकृति के विविध रूप लोकगीतों में अत्यंत खूबसूरती से उकेरे गए हैं। जैसे बसन्त में खिलते फूलों की छटा, गर्मियों में नदियों का शीतल जल, पतझड़ में लिली के फूलों की सुगंध। कुछ लोकगीतों में वृक्षों, नदियों और सूर्य जैसे प्राकृतिक तत्वों की पूजा का उल्लेख भी मिलता है, जो प्रकृति के प्रति सम्मान और भक्ति की भावना को प्रकट करता है। लोकगीत प्रकृति की सुंदरता का वर्णन करते हुए लोगों के हृदय में खुशी और शांति का संचार करते हैं। साथ ही वे मनुष्य के दैनिक जीवन और प्रकृति के बीच गहरे संबंधों को भी उजागर करते हैं।

हम देखते हैं कि लोककथाओं और लोकगीतों में प्रकृति का भरपूर वर्णन मिलता है। इन कथाओं और गीतों के माध्यम से प्रकृति की सुरक्षा का विशेष ध्यान रखा जाता था और लोग इन परंपराओं का पालन भी करते थे। यही कारण था कि उस समय प्रकृति अपेक्षाकृत सुरक्षित थी। किन्तु वर्तमान में स्थिति बदल गई है। प्रगति और विकास के नाम पर चारों ओर पेड़ों और पहाड़ों की अंधाधुंध कटाई की जा रही है। इसके परिणामस्वरूप वर्षा की मात्रा घटने लगी है और तापमान लगातार बढ़ रहा है। यहां तक कि असम में भी अब अत्यधिक गर्मी के कारण लोगों की मृत्यु की घटनाएँ सुनाई देने लगी हैं। वर्तमान युग प्रतिस्पर्धा और संचार तंत्र का युग है। समय के परिवर्तन के साथ लोकमान्यताएँ धीरे-धीरे विलुप्त होती जा रही हैं। आने वाली पीढ़ियों के इन मान्यताओं से पूरी तरह अपरिचित हो जाने का गंभीर खतरा है। इसलिए हम सभी का कर्तव्य है कि इन लोकमान्यताओं और परंपराओं को यथासंभव संरक्षित रखने का प्रयास करें। हमें सजग रहकर अपनी लोक-संस्कृति के संरक्षण का ध्यान रखना होगा। आज मानव जीवन में प्रकृति की आवश्यकता और महत्व को स्वीकार करने का समय आ गया है, क्योंकि प्रकृति ही हमारी साँस है, हमारा प्राण है। अतः प्रकृति की रक्षा करना वास्तव में अपने जीवन की रक्षा करना है। प्रकृति हमारे चारों ओर का वह अद्वितीय और निरंतर बदलता हुआ संसार है, जो जीवन का मूल स्रोत है। □□

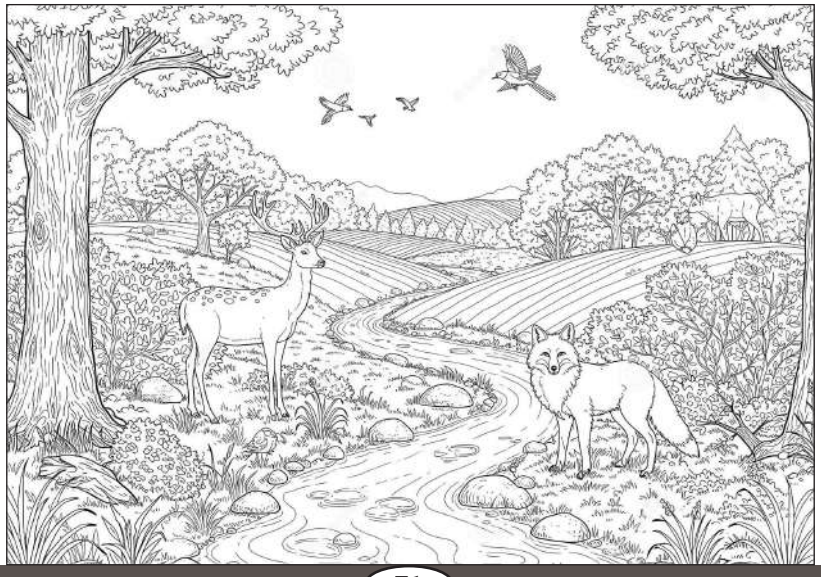

पूजा-पाठ, हवन विधान और पर्यावरण संरक्षण

फाल्गुन उपाध्याय, प्रधानाचार्य
शंकरदेव शिशु निकेतन
राजाबारी, गोलाघाट
दूरभाष - 9613369675

हमारे पूर्वजों की पूजा-पद्धति, हवन एवं सांस्कृतिक और धार्मिक उत्सवों के नियम केवल आध्यात्मिक नहीं थे, बल्कि उनके माध्यम से पर्यावरण संरक्षण का गहन संदेश भी मिलता था। आज कई संस्थाएँ, परिवार और समाज इन्हीं नियमों को अपनाकर पर्यावरण रक्षा में योगदान दे रहे हैं, जिससे प्रकृति और मानव के बीच संतुलन बना रहे।

वास्तव में ये परंपराएँ पर्यावरण संरक्षण के ही माध्यम हैं। भारतीय संस्कृति में पूजा-पाठ, यज्ञ, हवन और धार्मिक अनुष्ठानों की विशेष भूमिका रही है। हमारे पूर्वजों और धार्मिक ग्रंथों के अनुसार ये सब केवल धार्मिक क्रियाएँ नहीं थीं, बल्कि उनमें गहरा पर्यावरण संरक्षण का भाव छिपा था। पूर्वजों ने इन परंपराओं के माध्यम से प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित किया और अनेकों नियम बनाए, जो आज भी सुस्वास्थ्य एवं निरोगता के लिए प्रासंगिक हैं।

भारतीय संस्कृति में धर्म और प्रकृति का संबंध अत्यंत गहरा है। प्राचीन ग्रंथों, रीति-रिवाजों और परंपराओं में प्रकृति संरक्षण के अनेक उपाय समाहित हैं, जिन्हें हमारे पूर्वजों ने धार्मिक क्रियाकलापों के माध्यम से अपने जीवन का हिस्सा बनाया था।

आइए, विस्तार से समझें कि किस प्रकार पूजा-पाठ और हवन पर्यावरण संरक्षण के लिए उपयोगी रहे हैं और आज भी हम उनकी परंपरा का पालन कर रहे हैं। यज्ञ और हवन में जड़ी-बूटियों, घी और प्राकृतिक लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। आज अनुसंधानों से प्रमाणित हो चुका है कि इनके धुएँ से वातावरण शुद्ध होता है, रोगाणु नष्ट होते हैं और कीड़े-मकोड़े कम हो जाते हैं। यज्ञ के माध्यम से वायु को शुद्ध रखने में सहायता मिलती थी। आज भी पूजा, यज्ञ आदि के लिए तैयार की जाने वाली हवन सामग्री में हानिकारक रसायनों की जगह प्राकृतिक पदार्थों का ही प्रयोग किया जाता है। सामूहिक हवन आयोजनों से वातावरण का शुद्धिकरण होता है।

हवन कुंड में आम, पीपल, पलाश, गूलर आदि की लकड़ी और विभिन्न औषधीय जड़ी-बूटियाँ जैसे गुग्गुल, कपूर, इलायची, हल्दी इत्यादि का प्रयोग होता है। शुद्ध घी, चावल, तिल के बीज और अन्य वनस्पति-पदार्थ जलने पर वातावरण को शुद्ध करते हैं तथा हानिकारक जीवाणु अथवा कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से भी हवन के धुएँ में एंटी-स्पैस्मोडिक और एंटी-बैक्टीरियल तत्व पाए जाते हैं, जो वायुजनित बीमारियों को दूर रखते हैं। यज्ञादि कर्मों से उत्पन्न धुआँ वायु को शुद्ध करता है, वातावरण में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ाता है तथा दुर्गंध और घातक

तत्वों को निष्क्रिय करता है। कई धार्मिक अनुष्ठानों में समूह हवन आयोजित किए जाते हैं, जिससे स्थानीय स्तर पर वायु शुद्ध होती है।

धार्मिक अनुष्ठानों के दौरान वृक्षारोपण की परंपरा भी रही है। तुलसी, पीपल और बरगद जैसे पौधे पूजनीय थे, जिनकी पूजा के साथ संरक्षण की परंपरा भी जुड़ी थी। वृक्षों को काटना पाप माना जाता था, जिससे वन संरक्षण में सहायता मिलती थी। तुलसी के पौधे के महत्व को बताते हुए अधिकांश घरों में तुलसी के पौधे लगाए जाते हैं, जिससे पर्यावरण शुद्ध होता है और जीवनदायिनी ऑक्सीजन सभी को प्राप्त होती रहे। तुलसी, पीपल, नीम, बरगद और आम आदि वृक्षों की पूजा भारतीय परंपरा का महत्वपूर्ण हिस्सा रही है। इन पेड़ों का वैज्ञानिक एवं स्वास्थ्य दोनों दृष्टियों से महत्व है। वे भरपूर ऑक्सीजन प्रदान करते हैं, वातावरण को शीतल रखते हैं और औषधीय गुणों से परिपूर्ण हैं।

पूर्वजों ने यह व्यवस्था बनाई कि प्रत्येक पर्व, विवाह या अन्य शुभ अवसर पर वृक्षारोपण हो। कई स्थानों पर विवाह के समय वर-वधू को पौधा भेंट करने की परंपरा आज भी प्रचलित है। पूजा-पाठ में फूल-पत्तियों का उपयोग और मिट्टी के दीपकों का प्रयोग किया जाता है, साथ ही प्लास्टिक के उपयोग को कम करने की सलाह दी जाती है।

पूजा की अनेक धार्मिक क्रियाओं में जल का विशेष महत्व है। कलश प्रायः पूजाओं में वरुण देवता के नाम से स्थापित किया जाता है। इसमें शुद्ध जल भरकर उसे पवित्र माना जाता है, जिससे जल की स्वच्छता और महत्व को सम्मान दिया जाता है। पूजा के उपरांत उस जल को पौधों में अर्पित करने की परंपरा है, जिससे जल संरक्षण का संदेश मिलता है। नदियों, तालाबों और कुओं जैसे जलस्रोतों के संरक्षण का महत्व भी पूजाओं में परिलक्षित होता है। नदियों को माता का स्थान दिया गया है; उनकी पूजा करने से उनका सम्मान और स्वच्छता बनी रहती है। समय-समय पर धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर जलस्रोतों की सफाई की जाती थी। आज भी छठ पूजा, गंगा स्नान आदि पर्वों के समय जलस्रोतों की सफाई अभियान चलाए जाते हैं। लोग इसके महत्व को समझते हैं और जल को दूषित न करने का प्रण लेते हैं। जल को पवित्र मानने से लोग उसे प्रदूषित नहीं करते थे और जलस्रोतों की स्वच्छता बनाए रखते थे। वास्तव में यह जल संरक्षण का विधान ही तो है।

पशु-पक्षियों के सम्मान में उनकी पूजा करना जैव विविधता की रक्षा का संदेश देता है। गोपूजन, नागपंचमी, कौआ-पूजन, कुत्ता-पूजन, हाथी और कछुआ पूजन आदि के लिए विशेष तिथियाँ और उत्सव निर्धारित हैं। इससे न केवल इन जीवों का संरक्षण हुआ, बल्कि पारिस्थितिकी तंत्र में जैव विविधता बनी रहे यह इसका मुख्य उद्देश्य रहा है। पक्षियों के लिए दाना-पानी रखना, गाय को रोटी देना तथा कुत्ते को भोजन देना जैसी परंपराएँ न केवल करुणा का भाव सिखाती हैं, बल्कि यह प्रक्रिया हमें पर्यावरण संतुलन का ध्यान रखने की शिक्षा भी देती है।

कई धार्मिक एवं सामाजिक संगठन विभिन्न कार्यक्रमों के जरिए वृक्षारोपण, तालाब-सफाई, प्लास्टिक का त्याग, जैविक सामग्री का उपयोग आदि के अभियान चला रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप पूजा में प्राकृतिक फूल-पत्तियों, मिट्टी के दीपकों और जैविक सामग्री का अधिक उपयोग होने लगा है।

मंदिरों तथा अन्य सामाजिक एवं धार्मिक स्थानों पर बच्चों और युवाओं को पर्यावरण संरक्षण की शिक्षा दी जाती है। धार्मिक प्रवचनों और सत्संगों में प्रकृति रक्षा का संदेश दिया जाता है। हरेली, वन महोत्सव आदि पर्व पर्यावरण जागरूकता के लिए ही मनाए जाते हैं, जिनमें प्रतिवर्ष हजारों पौधे लगाए जाते हैं। कई स्थानों पर पूजा के साथ उपहार स्वरूप पौधा देना एक नई परंपरा बन गई है।

इस प्रकार पूजा-पाठ, हवन और धार्मिक अनुष्ठानों के माध्यम से हमारे पूर्वजों ने न केवल पर्यावरण का संरक्षण किया, बल्कि भावी पीढ़ियों के लिए दिशानिर्देश भी छोड़े। आज के वैज्ञानिक युग में भी उनकी परंपरा को आधुनिक सोच के साथ अपनाते हुए पर्यावरण को स्वस्थ रखने के प्रयास जारी हैं। आइए, हम भी इन परंपराओं के माध्यम से अपनी धरती को चारों ओर से सुरक्षित और हरा-भरा बनाने का प्रयास करें। किमधिकम्। □□

पूर्वोत्तर भारत की लोकपरंपराओं में प्रकृति पूजा

इगुआतुइंग कुआमे (आचार्य)
श्री कांची कामकोटि विद्या भारती विद्यालय, शिलांग, मेघालय
दूरभाष - 9625976098

पूर्वोत्तर भारत अपनी भौगोलिक विविधता, घने वनों, नदियों, झरनों और पर्वतीय जीवन के कारण विशिष्ट सांस्कृतिक विरासत का संवाहक है। यहाँ की लोकजातियाँ प्रकृति को ईश्वर के रूप में मानकर उसकी पूजा-अर्चना करती हैं। प्रकृति पूजा इनके जीवन, आस्था, संस्कृति और सामाजिक संरचना का अभिन्न अंग है। इस शोध-पत्र में पूर्वोत्तर भारत की विभिन्न जनजातियों जैसे—आसामी, नागा, मिजो, खासी, गारो, बोडो आदि समुदायों में प्रचलित प्रकृति पूजा के स्वरूप, लोकरीतियों, गीतों, उत्सवों तथा उनके पर्यावरणीय महत्व का विवेचन किया गया है। साथ ही यह भी देखा गया है कि आधुनिकता और वैश्वीकरण के प्रभाव में भी ये परंपराएँ किस प्रकार जीवित हैं और सतत विकास व पर्यावरण संरक्षण में कैसे सहायक सिद्ध हो सकती हैं। मानव सभ्यता के प्रारंभ से ही प्रकृति को जीवन का आधार माना गया है। जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी और आकाश - इन पंचतत्वों को दिव्यता प्रदान की गई। भारतीय संस्कृति में जहाँ वेदों से लेकर उपनिषदों तक प्रकृति की महिमा का वर्णन मिलता है, वहीं लोकपरंपराओं में भी प्रकृति पूजा का विशेष स्थान रहा है। विशेषकर पूर्वोत्तर भारत, जिसे 'भारत का द्वार' कहा जाता है, वहाँ की जनजातीय समाज-व्यवस्था प्रकृति-केंद्रित जीवन दर्शन पर आधारित है।

इस क्षेत्र में बहने वाली ब्रह्मपुत्र, बराक, कपिली नदियाँ; खासी-जयंतिया व गारो पहाड़; नागालैंड व मणिपुर की हरित वादियाँ तथा मिजोरम व त्रिपुरा के सघन वन ये सब मिलकर यहाँ के निवासियों को प्रकृति के प्रति श्रद्धा, कृतज्ञता और भक्ति की प्रेरणा देते हैं।

पूर्वोत्तर भारत की प्रकृति पूजा की परंपराएँ

असम में भूत-बैनावा और देउधनी नृत्य जैसी लोकपरंपराएँ प्रकृति से जुड़ी हुई हैं। यहाँ की खेती-बाड़ी ब्रह्मपुत्र नदी पर आधारित है, इसलिए बिहू उत्सव को प्रकृति और कृषि के उत्सव के रूप में मनाया जाता है। बिहू गीतों में प्रकृति, ऋतु परिवर्तन और फसलों की समृद्धि के लिए प्रार्थना झलकती है।

नागालैंड की जनजातियाँ जैसे अंगामी, सेमा, कोन्याक आदि पर्वतीय जीवन से सीधे जुड़े हैं। उनका प्रमुख पर्व मोआत्सु और होर्नबिल उत्सव कृषि-चक्र से संबंधित है। बोआई और फसल कटाई के समय ये प्रकृति देवताओं की पूजा

करते हैं। नागा मान्यता के अनुसार पहाड़, नदियाँ और वन सभी में आत्मा निवास करती है।

मणिपुर में सैनामही धर्म की परंपरा है, जिसमें घर के देवता और प्रकृति के शक्तिपीठ दोनों पूजे जाते हैं। लाई हराओबा उत्सव में झीलों, पर्वतों और वनदेवताओं की स्तुति होती है। यह उत्सव मणिपुरी लोकनृत्यों और गीतों में प्रकृति को जीवंत बना देता है।

खासी और जयंतिया समाज में नोकरेम डान्स और कायली उत्सव विशेष रूप से प्रकृति को समर्पित हैं। खासी समाज में 'सूरज और चंद्रमा' को जीवनदाता माना जाता है। गारो लोग सनगक्रान पर्व मनाकर फसल और वर्षा के देवता को धन्यवाद देते हैं।

बोडो जनजाति का बैसागु उत्सव पशु, पक्षी और पेड़-पौधों को सम्मान देने वाला पर्व है। इसमें गाय-भैंस को स्नान कराना, पेड़ों की पूजा करना तथा प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करना मुख्य उद्देश्य होता है।

मिजोरम में मिम कुट और पाव कुट पर्व कृषि और प्रकृति आधारित हैं। इसी तरह त्रिपुरा की त्रिपुरी जनजाति में गौरिया पूजा तथा करम उत्सव पेड़ की पूजा के रूप में मनाए जाते हैं।

प्रकृति पूजा और पर्यावरणीय दृष्टिकोण

पूर्वोत्तर भारत की प्रकृति पूजा केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं है, बल्कि यह एक पर्यावरणीय नैतिकता भी है। वनों को काटने से पहले पूजा करना, नदियों को पवित्र मानना, पवित्र वनों (Sacred Groves) की रक्षा करना ये सब परंपराएँ पर्यावरण संरक्षण का जीवंत उदाहरण हैं।

आज जब पर्यावरण संकट और जलवायु परिवर्तन गंभीर चुनौती बन चुके हैं, तब पूर्वोत्तर की लोकपरंपराएँ सतत विकास का मार्ग दिखाती हैं।

वैश्वीकरण और शहरीकरण ने इन परंपराओं पर गहरा प्रभाव डाला है। युवाओं का झुकाव आधुनिक जीवन शैली की ओर बढ़ा है, फिर भी त्योहारों और लोकगीतों के माध्यम से प्रकृति पूजा आज भी जीवित है। सरकार और सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा इन परंपराओं को प्रोत्साहित किया जा रहा है, जिससे यह सांस्कृतिक धरोहर संरक्षित रह सके।

****

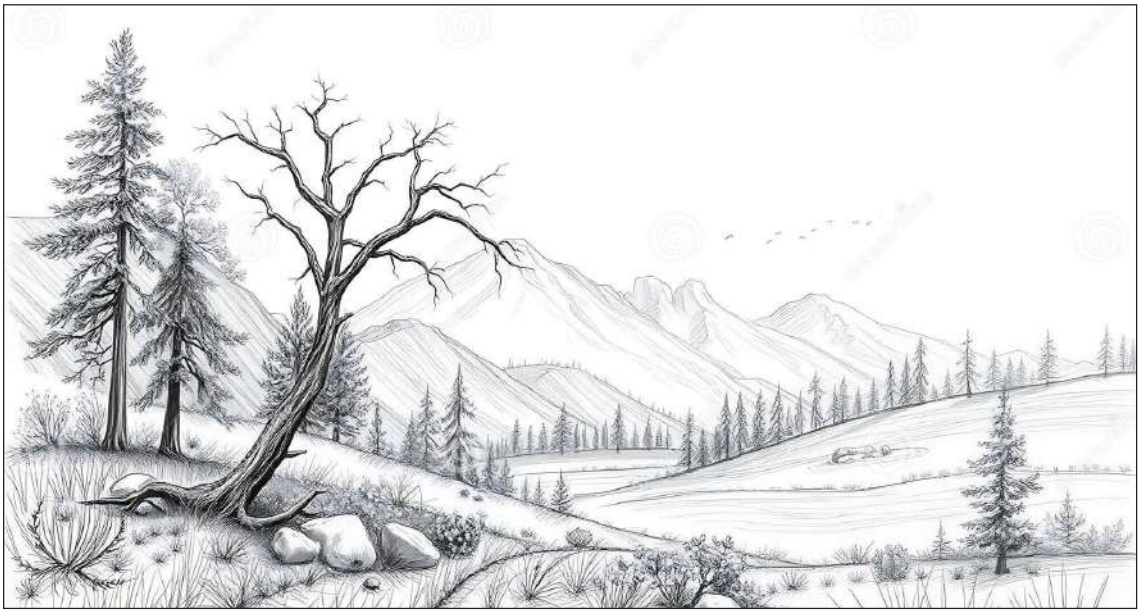

त्योहारों में पर्यावरण: सनातनी परंपराओं की जैविक चेतना

विवेकानंद देव पुरकायस्थ
(प्रधानाचार्य)
सरस्वती सिनियार सेकैंडरी शिशु निकेतन, रामपुर, डलु, काछार
दूरभाष - 9435688065

भारतवर्ष की संस्कृति अनादिकाल से प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व की भावना में रची-बसी रही है। यहाँ का दर्शन, धर्म और दैनिक जीवन, सभी प्रकृति को पूज्य मानते आए हैं। हमारे सामाजिक और धार्मिक त्योहार केवल आध्यात्मिक आयोजन नहीं हैं, बल्कि वे एक समृद्ध पर्यावरणीय चेतना को भी अपने भीतर समेटे हुए हैं। वनों, नदियों, पर्वतों, और पशु-पक्षियों की पूजा, ऋतुओं के अनुसार पर्वों का आयोजन और प्रकृति के विविध रूपों के प्रति श्रद्धा इन सभी का एकमात्र उद्देश्य प्रकृति और मनुष्य के बीच संतुलन बनाए रखना है।

जब हम बट वृक्ष (पीपल) जैसे वृक्षों की पूजा करते हैं, तो यह केवल धार्मिक आस्था का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि एक गहरी वैज्ञानिक और पारिस्थितिकीय सोच का संकेत होता है। पीपल का वृक्ष प्राचीनकाल से ही जीवनदायी माना गया है। यह दिन-रात हमें ऑक्सीजन प्रदान करता है, अपनी गहराई से जमी हुई जड़ों के माध्यम से जल स्तर को संतुलित करता है और अनेक वन्य प्राणियों के लिए आश्रय बनता है। इसे वृक्षराज कहा जाता है और इसके नीचे ध्यान लगाने का उल्लेख स्वयं बुद्ध और महावीर के जीवन से मिलता है। जब महिलाएँ वट सावित्री व्रत पर बट वृक्ष की परिक्रमा करती हैं, तो वे अनजाने में उस वृक्ष की सुरक्षा और संरक्षण में भागीदारी निभा रही होती हैं।

त्योहारों के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों को एकजुट कर पर्यावरणीय लक्ष्यों को साधने की यह परंपरा अत्यंत बुद्धिमत्तापूर्ण रही है। उदाहरण के लिए, मकर संक्रांति केवल खिचड़ी या तिल-गुड़ खाने का पर्व नहीं है, यह उस ऋतु-परिवर्तन का प्रतीक है जिसमें सूर्य दक्षिणायन से उत्तरायण होता है और कृषि चक्र में नवीनता आती है। इस समय खेतों में नई फसलें तैयार होती हैं और समाज प्रकृति को धन्यवाद देने के लिए सामूहिक उत्सव मनाता है।

ऐसे ही हरियाली तीज, नवग्रह पूजा, गौ पूजन, नदी स्नान और तुलसी विवाह इन सभी आयोजनों का संबंध पर्यावरण के किसी न किसी पक्ष से जुड़ा हुआ है और व्रत या उपवास हमारे पाचन तंत्र को मजबूत बनाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं इस बात की पुष्टि भी वैज्ञानिकों ने की है। तुलसी के पौधे को घरों में पूजने की परंपरा ने न केवल धार्मिक आस्था को बनाए रखा, बल्कि हजारों वर्षों से यह पौधा भारतीय घरों में ऑक्सीजन का स्रोत बना रहा। तुलसी एंटीबैक्टीरियल गुणों से युक्त होती है और वायु को शुद्ध करती है। इसी प्रकार गौ माता को धार्मिक प्रतीक मानकर उसकी सेवा करने की परंपरा ने ग्रामीण अर्थव्यवस्था में जैविक खाद, दुग्ध उत्पादन और कृषि सहायक के रूप में गोवंश की उपयोगिता को बनाए रखा।

भारत में अधिकतर मंदिरों का निर्माण पहाड़ों की ऊँचाई पर देखने को मिलता है। यह केवल धार्मिक सोच का हिस्सा नहीं बल्कि एक रणनीतिक पर्यावरणीय पहल भी है। पहाड़ों पर मंदिर बनाने से उन क्षेत्रों को संरक्षित किया

जाता है, क्योंकि धार्मिक स्थल बन जाने के बाद लोग वहाँ निर्माण कार्य या अतिक्रमण से बचते हैं। इस प्रकार पहाड़ी पारिस्थितिकी को अप्रत्यक्ष रूप से संरक्षित किया जाता है। साथ ही, भक्तों को वहाँ तक पहुँचने के लिए लंबी पैदल यात्रा करनी पड़ती है, जो शारीरिक व्यायाम का माध्यम बनती है और पर्यटन को भी बढ़ावा देती है। साथ ही उस ऊंचाई पर निरंतर हो रहे यज्ञ हवन आदि भी वायुमंडल की एक विस्तृत इलाके को शुद्ध करते रहते हैं।

कांवड़ यात्रा, अमरनाथ यात्रा, चार धाम यात्रा जैसे धार्मिक यात्राएँ केवल आध्यात्मिक यात्राएँ नहीं हैं; ये यात्राएँ पहाड़ी और वन क्षेत्रों से गुजरती हैं, और इनमें भाग लेने वाले लाखों लोग इन मार्गों की सफाई, संरक्षण और मरम्मत में योगदान देते हैं। सामूहिक रूप से किए गए कार्यों से इन क्षेत्रों की सफाई और प्रबंधन भी होता है, हालाँकि आधुनिक समय में यह चिंता का विषय भी बनता जा रहा है कि कैसे ये यात्राएँ कुछ स्थानों पर प्रदूषण का कारण भी बन रही हैं। लेकिन यदि परंपरागत नियमों और प्रकृति के प्रति श्रद्धा को पुनः जाग्रत किया जाए, तो यह संकट अवसर में बदला जा सकता है। रक्षा बंधन जैसे त्योहार सामाजिक समरसता और भाई बहनों के बीच में प्रेम और मर्यादा का प्रतीक होने के साथ साथ न केवल अपनी परम्परा को ढो रही है बल्कि आधुनिक समय में कई सामाजिक संगठनों ने इस पर्व को 'वृक्ष रक्षा बंधन' के रूप में भी मनाना शुरू किया है, जहाँ लोग पेड़ों को राखी बाँधकर उनकी रक्षा का संकल्प लेते हैं। यह परंपरा बच्चों और युवाओं में प्रकृति के प्रति अपनत्व और उत्तरदायित्व की भावना को और भी समृद्ध करती है।

इसी प्रकार, गणेश चतुर्थी, दुर्गा पूजा आदि पूजा में मूर्तियों को मिट्टी बाँस और पुआल या पराली जैसे ईको-फ्रेंडली सामग्रियों से बनाया जाता है। इससे कला और शिल्प को भी बढ़ावा मिलता है।

दीवाली जो प्रकाश का पर्व है, उसमें दीयों का प्रयोग, स्थानीय उत्पादों को प्राथमिकता देना, और वृक्षारोपण जैसे कार्यों को इस पर्व से जोड़ना, यह दर्शाता है कि आधुनिक समाज में भी हमारी प्राचीन परंपराएँ कितने समयानुकूल और प्रासंगिक हैं।

छठ पूजा, जो विशेष रूप से उत्तर भारत में मनाया जाता है, एक अद्भुत उदाहरण है कि कैसे सूर्य और जल स्रोतों की उपासना के माध्यम से प्रकृति के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती है। इसमें व्रती गंगा, तालाब, या पोखर में खड़े होकर सूर्य को अर्घ्य देते हैं, जो हमें जल स्रोतों की स्वच्छता और संरक्षण का संदेश देता है। इस पूजा से पहले लोग घाटों की सफाई करते हैं, जिससे सामूहिक रूप से जल-संरक्षण की भावना जाग्रत होती है।

प्राचीन भारतीय जीवनशैली की खास बात यह रही है कि उसमें कोई भी कर्म, कोई भी उत्सव, केवल भौतिक या सामाजिक आनंद तक सीमित नहीं होता, बल्कि वह एक व्यापक और समग्र उद्देश्य को साधता है। पर्यावरण संरक्षण भी उसी समग्र उद्देश्य का एक अंग रहा है। आज जब पूरी दुनिया जलवायु परिवर्तन, ग्लोबल वॉर्मिंग और प्राकृतिक आपदाओं से जूझ रही है, तब भारत की यह पारंपरिक जैविक चेतना और जीवन दर्शन एक मार्गदर्शक बन सकता है।

वर्तमान समय में आवश्यकता है कि हम अपने त्योहारों के साथ आधुनिकता को न जोड़े बल्कि उसमें छुपे प्रकृति-संरक्षण के मूल तत्वों को समझें और उन्हें सक्रिय रूप से अपनाएँ। आजकल देखा जाता है की कुछ लोग मूर्खता-वश ऐसी कुछ हरकतों को नियमित रूप से अपना लेते हैं, जैसे पूजा करने के बाद मंदिर के आस-पास पेड़ों में धूपबत्ती के प्लास्टिक वाली थैली को बांध देते हैं। यह बेहद दुखदाई और चिंतनीय विषय है। ऐसे कार्यों से हम प्रकृति की सेवा के बजाय उसका क्षति पहुंचा रहे हैं। विद्यालयों में बच्चों को त्योहारों के पीछे की पर्यावरणीय सोच बताई जाए, सामुदायिक स्तर पर वृक्षारोपण अभियान चलाए जाएँ और धार्मिक संगठनों के माध्यम से मंदिर, नदी, वन और पर्वत की रक्षा के लिए जागरूकता फैलाई जाए तो अवश्य ही हम इन सभी अनावश्यक और अनैतिक क्रियाकलापों से बचते हुए अपने पारम्परिक तौर तरीकों से त्योहारों को मनाएंगे और इससे स्वत: पर्यावरण का संरक्षण होता रहेगा।

भारत का सनातनी धर्म कोई सैद्धांतिक विचार मात्र नहीं है, यह एक जीवन शैली है जो प्रकृति के साथ सहजीवन का संदेश देती है। यहाँ नदियाँ माता हैं, वनों को देवता कहा गया है और पर्वतों को पूजनीय माना गया है। इस जीवन-दर्शन में पर्यावरण की रक्षा कोई अलग कार्य नहीं, बल्कि दैनिक जीवन का एक अनिवार्य अंग है। यदि हम इस परंपरा को फिर से जीवित कर लें, तो आने वाली पीढ़ियों के लिए एक समृद्ध और सुरक्षित पृथ्वी छोड़ सकते हैं। □□

पर्यावरण संरक्षण के विषय में क्या है भारतीय दृष्टि

आज पर्यावरण की चर्चा सर्वत्र है। सामान्य व्यक्ति से लेकर देश के बुद्धिजीवी तक और देश ही नहीं दुनियाँ के बुद्धिजीवी भी इस विषय के बारे में सोचते है और विचार करते हैं। पर्यावरण के विषय में विचार करने की आवश्यकता सभी को अनुभव होने लगी है। बदलती प्रकृति, नित परिवर्तन होता मौसम, सर्दी के समय सर्दी न होना, गर्मी के समय अधिक गर्मी होना, वर्षाकाल का आगमन आगे-पीछे होना ऐसे अनेक अनुभव सोचने पर मजबूर करते हैं। ऐसा क्यों हो रहा है जब इस पर विचार होता है तो उत्तर आता है कि समय बदल गया है। यह भी कह सकते है कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। परंतु इस बात का विचार यदि किया जाए कि प्रकृति में ऐसा बदल क्यों आया है? प्रकृति सभी का कल्याण करती है। परंतु प्रकृति मानव के विनाश के विषय में कैसे सोच सकती है? अभी हाल में ही एक देश में पारा 63 डिग्री पार कर गया और खड़ी गाड़ियों की बॉडी का लोहा पिघलने लगा। एक चित्र भी सोशल मीडिया पर वायरल हुआ है। ऐसी और अनेक घटनाएँ है जो यह संकेत करती है कि मानव का कल्याण व विनाश किस ओर जाने वाला है।

कुछ वर्षों पूर्व तक सितंबर की अर्धवार्षिक परीक्षा में जब बालक आता था तो स्वेटर पहनता था यानि सर्द ऋतु उस समय प्रारम्भ होने लगती थी। दीपावली से पूर्व रामलीला देखने जब व्यक्ति रात्रि में घर से निकलता था तो लोई या शाल ओढ़ कर निकलता था। आज दिसंबर प्रारम्भ में भी ऐसा कम दिखता है। अपने दैनदिन जीवन में ऐसे अनेक उदाहरण ढूँढे जा सकते हैं।

प्रकृति विनाश की बजाय कल्याण कारक ही रहे ऐसा ध्यान में रख कर भारतीय ऋषि-मनीषियों ने चिंतन किया। इस चिंतन को भारतीय वांगमय में उल्लेखित किया। इस चिंतन से प्रकट बातों को मानव समाज में प्रयोग कर स्थापित किया। प्रकृति संरक्षण का मानव का सहज स्वभाव बने ऐसी व्यवस्थाएं समाज में निर्माण की। सैंकड़ों-हजारों वर्षों तक भारतीय समाज ने इन व्यवस्थाओं का पालन किया। प्रकृति के संबंध में इन व्यवस्थाओं का पालन जब टूटने लगा तब परिवर्तन होने लगा।

इस चिंतन को हम भारतीय दृष्टि कह सकते है। यह भारतीय दृष्टि क्या है?

अथर्ववेद के भूमि सूक्त में पर्यावरणीय मूल्यों का विधान है। मनुष्य धरित्री (भूमि) से कहता है, "मैं आपके उत्खनन से कुछ प्राप्त कर रहा हूँ, पर मैं ऐसा कभी न करूं कि इस प्रक्रिया से आपके हृदय अर्थात् मर्मस्थल पर चोट पहुँच जाए।" अर्थात् उत्खनन करते समय दोहन करना शोषण करना नहीं।

दुनिया में जहां-जहां अत्यधिक उत्खनन हुआ है वहाँ-वहाँ प्रकृति में परिवर्तन हुआ है, कहीं जल संकट तो कहीं अत्यधिक बाढ़ की स्थिति बनी है।

ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि वृक्ष, जल, आकाश एवं पर्यावरण की वेणियाँ तथा वनस्पतियों से भरे पूरे वन और पर्व हमारा संरक्षण करें। ऋग्वेद में उल्लेखित है, 'वनं आस्थाप्यध्वम्' अर्थात् वन में वनस्पतियाँ उगाओ, वृक्षारोपण

राष्ट्रीय शिक्षा
सा विद्या या विमुक्तये
https://rashtriyashiksha.com/
साभार: राष्ट्रीय शिक्षा

करो। वानस्पतिक संपदा के भंडार में वृद्धि करो, उसे घटाओ नहीं। यजुर्वेद के एक सूत्र में कहा गया है कि हे वनस्पति ! इस धारदार कुल्हाड़े से अपने महान सौभाग्य के लिए मैंने तुम्हें काटा अवश्य है, परंतु तेरा उपयोग हम सहस्र अंकुर होते हुए करेंगे।

जीवन यापन के लिए यदि लकड़ी की आवश्यकता है तो वृक्ष न काटकर उसकी शाखाओं का उपयोग करना, उसमें भी ऊपर की शाखाएँ नहीं केवल नीचे की शाखाएँ ताकि हमारे प्रयोग लायक लकड़ी भी मिल जाएँ और पेड़ के अस्तित्व बने रहने के साथ तना भी बढ़ता रहे।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण जी ने कहा है, "धर्मविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ:" अर्थात् जहाँ भोग धर्म की अवमानना नहीं करता वह दिव्य है। प्रकृति का भोग भी करना है तो धर्म का पालन करते हुए करना है यानि प्राणी मात्र के कल्याण का भाव सदा बना रहे।

ईशोपनिषद् में कहा गया, "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनं।।" अर्थात् "समस्त सृष्टि राम में है उसका उपयोग केवल त्याग की भावना से करो। दूसरों के भाग पर डाका डालने का प्रयास न करो।

अथर्ववेद के भूमिसूक्त में कहा है, 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' अर्थात् यह भूमि हमारी माता है और हम सब उसके पुत्र हैं। प्रत्येक प्राणी, वनस्पति एवं प्रत्येक चैतन्ययुक्त वस्तु पर प्रकृति का बराबर स्नेह है। शायद यही कारण है कि वनों में निवास करने वाले वनवासी एवं ग्रामों में निवास करने वाले ग्रामवासियों का पर्यावरण के प्रति आदर व स्नेह प्रारम्भ से रहा हैं।

हमारे ऋषि जानते थे कि पृथ्वी का आधार जल और जंगल है। पृथ्वी की रक्षा के लिए वृक्ष और जल को महत्वपूर्ण मानते हुए ऋषियों ने कहा है – "वृक्षाद् वर्षति पर्जन्य: पर्जन्यादन्न सम्भव:" अर्थात् वृक्ष जल है, जल अन्न है, अन्न जीवन है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में भूमि को कहा गया है, "अरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु" अर्थात् तेरे जंगल हमारे लिए सुखदाई हों। भारतीय जीवन के आश्रम चतुष्टय में से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास का सीधा संबंध वनों से ही है। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु से आत्मा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वृक्ष जीवात्मा से ओतप्रोत होते हैं और मनुष्यों की भाँति सुख-दु:ख की अनुभूति करते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में ही सत्यकाम की कथा का उदाहरण है। कुछ समय सत्यकाम ब्रह्मचारी को शिक्षा देने के उपरांत गुरु उसे 400 गायों के साथ वन में भेज देते हैं और कहते हैं कि जब गायों की संख्या एक हजार हो जाएँ तभी वह वापस आए। वापसी के समय सत्यकाम को अग्नि के अतिरिक्त एक वृषभ तथा दो पक्षियों हंस व मृदु से ब्रह्म ज्ञान का उपदेश मिलता है। गुरु द्वारा सत्य काम को वन गमन करने के आदेश देने का उद्देश्य भी यही समझाना था कि सच्ची शिक्षा सदैव प्रकृति के संपर्क में रहने से ही आती है।

महाकवि कालिदास ने 'कुमारसम्भवम्' में हिमालय की महानता और देवत्व को बताते हुए कहा है – "अस्तुस्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज:।" हिमालय देवतात्मा है और पर्वतों का राजा है। प्रकृति के संरक्षण में पहाड़ का भी महत्व है। अतः पहाड़ का भी ध्यान रखा जाए।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण का कथन है, 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' अर्थात् वृक्षों में मैं पीपल हूँ।। 10/26।। परिमाण और आयुमर्यादा दोनों की दृष्टि से अश्वत्थ अर्थात् पीपल वृक्ष को सर्वव्यापक और नित्य माना जा सकता है। पर्यावरण को संतुलित रखने की वृक्षों की भूमिका को रेखांकित करने का उदाहरण है कि वृक्षों में भी जीवन है। महाभारत के शांति पर्व के 184वें अध्याय में महर्षि भारद्वाज व महर्षि भृगु का संवाद है। इस संवाद में स्पष्ट वर्णन है कि कि वृक्ष पंचभौतिक अवचेतन हैं। हमारी संस्कृति में नीम को पूर्ण चिकित्सक, आंवले को पूर्ण भोजन, पीपल को शुद्ध वायुदात्री, पाकड़ और वट के युग्म वृक्षों को जल संग्राहक एवं वट को पूर्ण घर माना गया है।

केवल वृक्ष लगाने से ही पर्यावरण संरक्षण होने वाला है क्या? जल, जंगल और जमीन इन तीनों का ध्यान रखना पड़ेगा। जो चर्चा सर्वत्र चली है। उस चर्चा में भारतीय दृष्टि को सम्मिलित करने की महती आवश्यकता है। और केवल चर्चा ही नहीं प्रत्यक्ष क्रियान्वित करनी होगी। वास्तव में भारतीय दर्शन विश्व के स्वस्थ विकास का ब्लूप्रिंट है। □

****

असम की खेलमा जनजातिः एक संक्षिप्त परिचय

होइचुंगलिएन खेलमा
केक्रांगसिप, उमरांगसो, डिमा हसाओ, असम
दूरभाष - 9435599321

प्रस्तावना

भारत की विविधतापूर्ण सामाजिक संरचना और जनजातीय जीवन में प्रकृति का स्थान सदा से ही सर्वोच्च रहा है। विशेषकर पूर्वोत्तर भारत की जनजातियाँ प्रकृति के साथ गहरे सामंजस्य में अपना जीवन व्यतीत करती हैं। इन्हीं में से एक है खेलमा (साकाचेप) जनजाति। इनकी जीवनशैली, रीति-रिवाज और लोकपरंपराएँ पूरी तरह प्रकृति के ताने-बाने से जुड़ी हुई हैं। इनके लिए जंगल, जल, मिट्टी, पेड़-पौधे और पशु-पक्षी मात्र जीवनोपयोगी संसाधन नहीं, बल्कि एक गहन आध्यात्मिक संबंध और अस्तित्व का आधार हैं।

नामकरण और प्रकृति से जुड़ाव

खेलमा समाज में बच्चे के नामकरण की परंपरा स्वयं प्रकृति के सम्मान का जीवंत प्रमाण है। बच्चे का नाम प्रायः पैतृक और मातृक पूर्वजों के नामों को जोड़कर रखा जाता है। यह न केवल पीढ़ियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करता है, बल्कि इस विश्वास से भी जुड़ा है कि पूर्वजों की आत्मा और उनका आशीर्वाद बच्चे की रक्षा करेंगे तथा उसे जीवन में मार्गदर्शन प्रदान करेंगे।

जन्म के समय बच्चे की नाल को काटने के बाद उसे एक बांस की टोकरी में सुरक्षित रखा जाता है। इस टोकरी को समाज में अत्यंत पवित्र माने जाने वाले एक विशेष वृक्ष की डाल पर लटकाया जाता है। इस वृक्ष को खेलमा भाषा में मानवोंग (Maanvong) कहा जाता है। इस परंपरा का आशय यह है कि जिस प्रकार इस वृक्ष पर प्रचुर मात्रा में फल लगते हैं, उसी प्रकार इस बालक/ बालिका की आने वाली पीढ़ियाँ भी समृद्ध हों और वंश वृद्धि निरंतर बनी रहे।

इसके पश्चात सातवें दिन बच्चे को घर से बाहर ले जाया जाता है ताकि वह पहली बार धरती माता का स्पर्श कर सके। खेलमा के पारंपरिक घर, जिन्हें मचांग कहा जाता है, ज़मीन से लगभग पाँच फुट ऊँचे बनाए जाते हैं। इस कारण बच्चे का धरती से पहला संपर्क जन्म के तुरंत बाद नहीं, बल्कि सात दिन बाद होता है। इस अवसर पर प्रसव के समय मां की सहायता करने वाली महिला (आज की भाषा में जिसे नर्स कहा जाता है) बच्चे को गोद में लेकर बाहर आती है और एक पवित्र मंत्र का उच्चारण करती है:

अवियाना कनाइ मान सु'क हे, निसा सु'क का सु'क, था सु'क का सु'क,
कोंगनु मान मुनोरो, कांगपा मानमु नोरो, कलीम ला चांग रांग, कबुर ला चांग रांग।
(Aviana kanai maan suak he, Nisa suak ka suak, tha suak ka suak, kongnu maan munoro, kangpa maanmu noro, kalim la chang rang, kabur la chang rang.)

यह मंत्र उच्चारित करने के बाद बच्चे का दाहिना अंगूठा पहली बार धरती माता से स्पर्श कराया जाता है। इससे यह विश्वास किया जाता है कि शिशु को धरती माता का आशीर्वाद प्राप्त होगा, उसका जीवन मंगलमय होगा और

उसके भीतर प्रकृति के साथ एक अटूट बंधन स्थापित होगा।

पारसेमकुट उत्सव – संस्कृति और प्रकृति का संगम

बहुत समय पहले खेलमा समाज में एक गरीब पिता था, जो अपनी बेटियों का विवाह कराने में असमर्थ था। तब उसने गाँव में यह घोषणा की कि जो युवक जंगल से एक सुंदर फूल लेकर आएगा और वह भी बिना पेड़ को काटे, बिना किसी अस्त्र का उपयोग किए और बिना प्रकृति को नुकसान पहुँचाए – मैं अपनी पुत्री का विवाह उसी से कर दूँगा।

यह चुनौती आसान नहीं थी, क्योंकि फूल को तोड़ते समय उसे मुरझाए बिना और पेड़ को क्षति पहुँचाए बिना लाना ही असली परीक्षा थी। जंगलों में एक प्रकार का पेड़ पाया जाता है, जिसे खेलमा भाषा में केरसेई (Kersei) कहा जाता है। यह पेड़ बहुत ही लंबा और सीधा होता है, जिसकी डालियाँ बहुत कम निकलती हैं। इसकी ऊँचाई और सीधापन के कारण इस पर चढ़ना अत्यंत कठिन होता है। फिर भी बिना किसी अस्त्र और साहसपूर्ण प्रयास कर, ऊपर की नन्हीं-सी शाखाओं में खिले फूलों को लाना ही इसका विशेष महत्व है। इसमें ताकत नहीं, बल्कि संवेदनशीलता, धैर्य और प्रकृति के प्रति आदर की आवश्यकता थी।

यही कारण है कि पारसेम कुट में युवकों द्वारा फूल अर्पित करना केवल एक परंपरा नहीं, बल्कि सम्मान और जिम्मेदारी से समाज में जीने की शुरुआत का प्रतीक माना जाता है। यही परंपरा खेलमा समाज का प्रकृति से गहरा जुड़ाव दर्शाती है – जहाँ वे प्रकृति को काटते या नष्ट नहीं करते, बल्कि उसके दिए फूलों से ही अपने संबंध और संस्कृति को जीवित रखते हैं।

आगे चलकर इस परंपरा ने एक त्योहार का रूप लिया, जिसे हर साल 11 अप्रैल को हर्ष और उल्लास के साथ मनाया जाता है। यह पर्व युवाओं को आशीर्वाद देने और आपसी संबंधों को सुदृढ़ करने का दिन होता है। इस विशेष दिन पर युवा फूलों के माध्यम से अपने सम्मान और स्नेह को प्रकट करते हैं — फूलों का यह उपहार न केवल प्रेम का प्रतीक है बल्कि हमारी प्रकृति के प्रति आदर भाव का भी प्रतीक है।

हमारे पूर्वजों ने यह शिक्षा दी कि बिना पेड़ को काटे, बिना डाल तोड़े, फूलों को प्रेम और सावधानी से चुना जाए। यही हमें सिखाता है कि हम प्रकृति से लेते भी हैं, तो उसके प्रति संवेदनशील और जिम्मेदार होकर।

कृषि और पर्यावरण

खेलमा समाज का जीवन पूरी तरह से कृषि पर आधारित है, जिसमें झूम खेती इनकी परंपरा की आत्मा है। जंगल को काटने से पहले वे उसे प्रणाम करते हैं और जलाने या खेती शुरू करने के बाद भी प्रकृति के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। नए धान पकने पर उसका प्रथम अन्न एक विशेष विधि से ग्रहण किया जाता है। सबसे पहले धान को सूम (suum) नमक में रखकर सेरेल (serel) नमक से कूटा जाता है। इसके पश्चात चिवड़ा, जिसे खेलमा भाषा में टांगपीर (tangpeer) कहा जाता है, पूर्वजों को समर्पित किया जाता है। यह विश्वास है कि पूर्वजों को अर्पण करने के बाद ही नया अन्न उनके लिए पूर्ण और पवित्र होता है। तभी पूरा समाज नए चावल का आनंद लेता है।

खेलमा समाज की पारंपरिक पोशाक

खेलमा समाज की पारंपरिक पोशाक में मुख्य रूप से काला, सफेद, लाल, पीला और गुलाबी रंगों का उपयोग किया जाता है।

पुराने समय में कपड़ा तैयार करने के बाद रंगाई के लिए समाज प्राकृतिक तरीके से पेड़ की छाल का उपयोग करता था, जिससे अधिकतर पारंपरिक रूप से तीन रंग (काला, सफेद और लाल) ही मिलते थे। बाद में समय के साथ पीला और गुलाबी भी समाज की पोशाक का हिस्सा बन गया।

(I). महिलाओं के पोशाक और आभूषण:

महिलाएँ परंपरागत रूप से मेखला (Mekhela - wrapper) पहनती हैं, जिसे खेलमा भाषा में पुआनबोम (Puanbom) कहते हैं। आभूषणों में, कान के ऊपरी हिस्से में टोइया (Toia) पहनने की परंपरा है। कान के निचले हिस्से में कुआरबेट (Kuarbet) नामक चाँदी का आभूषण पहना जाता है। गले में महिलाएँ प्रायः सिक्कों की माला (coin necklace) धारण करती हैं।

(II). पुरुषों की पोशाक:

पुरुष पारंपरिक रूप से धोती पहनते हैं। सिर पर पगड़ी बाँधते हैं, जो इनकी पारंपरिक पहचान का प्रतीक है। इस प्रकार, खेलमा समाज की पोशाक न केवल इनकी सांस्कृतिक मूल्यों और परंपराओं को दर्शाती है, बल्कि प्राकृतिक संसाधनों से जुड़े जीवन और कला को भी अभिव्यक्त करती है। □

छविमुरा/ चाक्राकमा: त्रिपुरा की रहस्यमय कहानी

खाकुचांग जमातिया
देवान बाड़ी, उदयपुर,
गोमती, त्रिपुरा
दूरभाष - 7005745120

प्रस्तावना

त्रिपुरा राज्य के गोमती जिले में स्थित एक गुफा और शैल चित्र के बारे में रहस्यमय कहानियाँ प्रचलित है। ऐसा कहा जाता है कि इस गुफा में एक आत्मा का वास है, जो अपनी भूख मिटाने के लिए हर साल एक व्यक्ति की बलि लेती है। लोगों का यह भी दावा है कि गुफा इतना अंधकार और भयानक है कि कोई भी व्यक्ति वहाँ जाने की हिम्मत नहीं करता। कुछ लोग इसे एक प्राचीन राजा द्वारा निर्मित साधारण गुफा भी मानते हैं और इसे कोई विशेष नहीं समझते लेकिन, इन दावों के बावजूद, इस स्थान की सत्यता आज तक किसी के सामने पूरी तरह से नहीं आई है, यह गुफा रहस्य और डर का प्रतीक बन गई है, जिससे जुड़ी कहानियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती आ रही हैं।

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व

महाराजा धन्यमाणिक्य के शासनकाल में (1490-1515 ई.) में उसके दो प्रिय मंत्री थे - रायकोचाक और रायकोसो। उनके दुश्मन हुसैन शाह ने पहली बार रांगामाटी वर्तमान उदयपुर पर हमला करके पराजित होकर वापस लौटना पड़ा था और इस हार की आग में जलकर हुसैन शाह प्रतिशोध के रूप में उदयपुर और अमरपुर में कब्जा करने के लिए पुनः तैयारी करने लगा।

लेमोहेरा युद्ध के बाद महाराजा द्वारा अपने प्रिय मंत्री रायकोचाक को अपमान किए जाने पर वह दुःखी हो अपना मंत्री पद छोड़कर वहाँ से चला जाता है। बाद में महाराजा को अपने प्रिय मंत्री रायकोचाक की अनुपस्थिति में उसके महत्व का अहसास होता है क्योंकि रायकोचाक राजनैतिक तथा युद्धनीति में पारंगत था। राज्य में उसकी तरह गुणवान कोई दूसरा व्यक्ति न होने के कारण, महाराजा उसके अपने प्रिय मंत्री रायकोचाक को पुनः मंत्री पद पर बिठाता है।

जिस स्थान में चाक्राकमा का शैल चित्र स्थित है, उस पहाड़ी क्षेत्र में उस समय रियांग समुदाय के लोग बहुसंख्यक में निवास करते थे। इस समुदाय के लोग बहुत ही साधारण और पारंपरिक ढंग से जीवन जीते थे। मुख्य रूप से इस समुदाय के लोग घुमंतू स्वभाव के हैं। वे हर साल हूक (झूम) खेती तथा जंगलों में शिकार आदि करके अपनी आजीविका चलाते थे। राजा के दो प्रिय रायकोचाक तथा रायकोसो ने इस समुदाय के लोगों को एक-एक बेहतर तरीके से जीवन यापन करने और आत्मरक्षा करने आदि गुण भी सिखाए।

उन दोनों से प्रभावित होकर वहाँ से लगभग 40 किलोमीटर दूर 'सोनामुरा' नामक स्थान पर रहने वाले लघु संख्या जनजाति भी मुख्य रूप से खेती और श्रम आधारित कार्यों के जरिए अपना जीवन निर्वाह करते थे। दोनों मंत्रियों ने उन लोगों को भी संगठित और शिक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

देवी और युद्ध नीति

युद्ध के ठीक एक दिन पहले, पीपल का पेड़ के नीचे एक अनजान महिला अपना पारंपरिक वस्त्र रिगनाई पहनकर गुनगुनाते हुए सबके सामने प्रकट होती है।

कुछ लोगों ने उसे मानसिक रूप से विक्षिप्त समझा तो कुछ ने उसे देवी माना। वह महिला ऊँचे स्वर में गाते हुए महाराज को चेतावनी देती हुई कहती है कि, हे राजन ! अगर तुम उदयपुर तथा अमरपुर को बचाना चाहते है, तो मुझे पहचानो।

वह महिला कभी स्वयं को मां तरंगिनी कहकर परिचय देती तो कभी हाईचुक्मा कहकर। साथ में यह भी दावा करती कि, वह पहाड़ की सबसे बड़ी देवी है और उसे तंत्र-मंत्रों की सिद्धियाँ भी प्राप्त है। इस तरह उसकी बातें सुनकर राजा के कुछ सैनिक भयभीत होकर रायकोचाक से जाकर यह सारी बातें बताते हैं।

सारी बातें सुनकर रायकोचाक को उस अनजान महिला को देखने की इच्छा होती है। वह सीधे घोड़े पर सवार होकर महिला को देखने के लिए उसके पास जाता है। रायकोचाक उस महिला को देखकर हक्का-बक्का रह जाता है। वह अपने दोनों हाथ जोड़कर पूछने लगता है, ''माँ ! आप कौन हो? और इस तरह यह सब क्यों बता रही हो?''

महिला जवाब देती है, "मुझे राजा से मिलना है, तुम्हारे राज्य पर एक बड़ा संकट मंडरा रहा है।" रायकोचाक यह बात सुनकर डर जाता है और तुरंत राजा को बुला लाने के लिए एक सैनिक को भेज देता है। सैनिक कांपते हुए महल में पहुंचकर यह खबर राजा को सुनाता है तो राजा चौंक जाता है और ठीक वैसी ही एक महिला को इस तरह बात करते हुए सपना आने का स्मरण होता है । इस तरह से वास्तव में भी उसके सपने से मेल खाने के कारण इसे संकेत समझकर तुरंत घोड़े पर चढ़कर उस महिला से मिलने के लिए चल पड़ता है।

वहाँ पहुँचकर राजा ने उस महिला से सम्मानपूर्वक कहता है, "माँ! आप कौन हैं और क्या बताने आयी हैं?''

महिला: "हे राजन! यदि तुमने अभी मुझे नहीं पहचाना, तो तुम्हारा राज्य बड़े संकट मे पड़ सकता है। मैं तुम्हे धूप और छाया दोनो दे सकती हूँ, लेकिन तुम्हे मेरी शक्ति को स्वीकारना होगा।"

राजा: "हे देवी! आपकी कृपा पाने और आपकी आज्ञा का पालन करने के लिए मैं तैयार हूँ। मुझे बताइए कि मुझे क्या करना होगा?"

महिला: "मैं मातरंगिनी इस पहाड़ की सबसे शक्तिशाली देवी हूँ। इन पहाड़ों में मुझसे बड़ा और शक्तिशाली कोई नहीं है।"

राजा: हे देवी! मैं आपकी हर आज्ञा मानने को प्रतिबद्ध हूँ, कृपया आप मुझे शक्ति प्रदान कीजिए ताकि मैं अपने राज्य की रक्षा कर सकूँ।

महिला: "राजन! मेरी इच्छा केवल इतनी है कि, सप्ताह के दो दिन हर शनिवार और मंगलवार को मेरे ही नाम पर कोई प्रसाद चढ़ाए। किन्तु याद रहे, यह परंपरा न केवल अभी के लिए होगी, बल्कि जब मैं अपना यह भौतिक शरीर को त्याग दूँगी, तब भी मेरे नाम की पूजा होती रहनी चाहिए ताकि लोग हमेशा मुझे स्मरण रखे।"

राजा: "देवी! मैं आपकी इस शर्त को स्वीकार करता हूँ। कृपया आप मुझे आपके आशीष से इस युद्ध में विजय प्राप्त करा दीजिए।"

इस बीच, दुश्मन हुसैन अपनी सेना को साथ में लेकर आक्रमण की तैयारी करके अलग-अलग मार्गों से आगे बढ़ता है। उसके कुछ सैनिक नाव पर पानी के मार्ग से आते हैं तो कुछ हाथी और घोड़े पर सवार होकर और कुछ सैनिक पैदल चलते हुए जंगल की ओर से आगे बढ़ते हैं।

सोनामुरा के जंगल में पहुंचकर हुसैन शाह अपने सैनिकों से कुछ दिनों के लिए डेरा डालने को कहता है। ताकि सही मौके का फायदा उठाकर आक्रमण किया जा सके। कई तरह की योजना बनाते हुए युद्ध में विजय प्राप्ति की उम्मीद लगाकर हुसैन शाह और उसके सैनिक घोड़े बेचकर सो जाते हैं। किन्तु उनको यह नहीं पता था कि, यह रात उनके लिए कितनी कठिन और चुनौतीपूर्ण हो सकती है।

दूसरी ओर राजा और देवी मिलकर युद्ध के लिए कई तरह की गुप्त योजनाएँ बनाते हैं। देवी राजा को जंगल से जहरीली जड़ी-बूटियों को खोजकर लाने के लिए कहती है। उन जड़ी-बूटियों का रस तालाब और नदियों में मिलाकर पानी को विषाक्त बनाया जा सके। जिससे हुसैन के सैनिकों द्वारा इन नदी तथा तालाबों का पानी उपयोग किए जाने पर उनकी मौत हो जाए। इसके बाद राजा देवी की हर एक बात को ध्यानपूर्वक सुनकर निष्ठा से पालन करता है।

हुसैन शाह के सैनिकों द्वारा तालाब तथा नदियों से पानी उपयोग किया जाने पर उसके कई सैनिक पेट दर्द, खून की उल्टियाँ आदि जैसी बीमारियों से पीड़ित होने लगे, जिसके कारण उन्हें स्थान परिवर्तन करने को मजबूर होना पड़ता है।

इसके बाद देवी योजना बनाकर सोनामुरा की ओर बहने वाली सभी नदियों के पानी को कुछ दिनों के लिए बांध बनाकर रोककर रखने को कहती है। ताकि जब नदी का पानी

अधिक मात्रा में जमा हो जाए तब केले के तने के साथ नुकीला बाँस आदि बांधकर इस नदी के तेज प्रवाह के साथ बहाकर दुश्मन के सैनिकों को घायल करने की योजना बनाती है। एक रात जब हुसैन के सैनिक नदियों के तट पर डेरा डालकर सो रहे होते हैं, उसी वक्त राजा ढेरों जंगली केले के पेड़ को कटवाकर उसके साथ बाँस की नुकीली चीजें बांधकर नदी के तेज प्रवाह के साथ बांध तोड़कर नदी का पानी छोड़ देता है। जिससे कई शत्रुओं के शरीर इन नुकीले चीजों से घायल होकर मारे जाते हैं तो कुछ पानी में डूबकर। जो इसमें से बचकर जंगल की ओर अपने प्राण बचाने के लिए भागे, राजा के सैनिक पीछा करके सबका वध कर देते हैं। इस प्रकार हुसैन के सैनिक तितर-बितर हो जाते हैं। हुसैन शाह के सैनिकों पर चारों ओर से तबाही मच जाने के बाद उसके पास और दूसरा कोई विकल्प न होने के कारण निराश मन लेकर पुनः लौटने को मजबूर हो जाता है। इस प्रकार उस अनजान देवी की कृपा तथा योजना के कारण राजा को अपने शत्रुओं पर बिना युद्ध का विजय प्राप्त हो जाता है। कहा जाता है कि महाराज के सैनिक युद्ध में कुशल थे, उसके केवल दो सैनिकों ने ही हुसैन के लगभग 200 सैनिकों का वध किया था। महाराज धन्य माणिक्य ने न केवल इस तरह दुश्मनों से अपने राज्य को सुरक्षित रखा बल्कि अपनी प्रजा का मान-सम्मान और विश्वास जीता।

इस युद्ध में विजय पा लेने के बाद राजा और उनके प्रजा खुशी से जश्न मनाने लगे तभी मोग राजा जो इतिहास के पन्नों पर अपना नाम दर्ज करना चाह रह था उसने भी युद्ध के लिए तैयारियाँ शुरू करके धन्यमाणिक्य पर आक्रमण कर देता है। हालांकि उसकी सेना की संख्या बहुत ही कम होने के कारण वह बार-बार हार का सामना करता रहा। अंत में वह हार मानकर युद्ध के लिए प्रयास करना छोड़ देता है।

नक्काशियाँ

विजय के बाद चारों ओर शांति हो जाने के बाद राजा धन्य माणिक्य माँ मतरंगिनी की स्मृति को अमर बनाने का निर्णय लेकर नकासियों को बुलाता है और हिंदू धर्म के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए कई मूर्तियाँ और शैल चित्रों का निर्माण शुरू करवाया इन मूर्तियों को बनाने का उद्देश्य देवी की महिमा का प्रचार-प्रसार करना और उनकी पूजा को स्थायी बनाना था। 18वीं सदी में आए एक विनाशकारी भूकंप ने इन कलाकृतियों को गंभीर नुकसान पहुँचाया है, जैसे उनोकोटी की कई प्रसिद्ध मूर्तियाँ, त्रिपुरा के लालबारी क्षेत्र में बनाए गए कई मंदिर और मूर्तियाँ तथा साथ ही साथ चक्राकमा की कई नक्काशियाँ भी इस दौरान नीचे गिरकर टूट गए। जबकि कुछ अभी भी शेष हैं। इस प्रकार उसकी मूर्तियाँ स्थाई रूप से स्थापित हो जाने के बाद लोग उसकी पूजा करने लगे, तब से आज तक वहाँ पर पूजा करने की परंपरा प्रचलित है, हालांकि आज वहाँ किसी की बलि न दिया जाता हो पर उसकी पूजा अवश्य की जाती है।

निष्कर्ष

समग्र रूप से देखा जाए तो यह स्थान न केवल धार्मिक आस्था का प्रतीक है, बल्कि सांस्कृतिक धरोहर के रूप में भी विशेष महत्व रखता है। जिस देवी ने कठिन समय में राजा और उसके राज्य की रक्षा की, उनके लिए प्रतिवर्ष पूजा आयोजित की जाती है। स्थानीय लोगों की कहानियों और श्री माणिक जामतिया के अनुभवों से यह स्पष्ट होता है कि इस स्थान की पहचान केवल एक धार्मिक स्थल तक सीमित नहीं है। यह माना जाता है कि देवी ने राजा और उसके राज्य को संकट से बचाया था, जिसके बाद से हर साल उनकी पूजा की परंपरा चली आ रही है। आज यह जिम्मेदारी "जामतिया होदा" निभा रहे हैं, जो पूजा के साथसाथ स्थान की सफाई और देखभाल भी करते हैं। मंदिर और पर्यटन सुविधाओं के कारण यह स्थान अब श्रद्धा, संस्कृति और सामाजिक एकता का केंद्र बन चुका है। □□

संदर्भ सूची –

1) Progressive Tripura, Apurba Chandra Bhattacharyya, 25 September 1930, Printed by S. C Roy, Sudha Press Cornwallis Street, Calcutta. Page No- 6, 20, 21, 22

2) Sri Rajmala Vol 1 - 4, Dr. Nc. Nath, Third Edition-2020, Published by Tribal Research and Cultural Institute Government of Tripura, Page No- 70, 71

3) Maharaja Dhanya Manikya: The History of King Dhanya Manikya Rai Kwchak and Their Battles with Sultan Husain Shah, Boyar Debbarma, Publisher Notion Press (13 March 2024); Notion Press Media Pvt Ltd.

4) Youtube: Channel: Koktripura Exclusive, History of Chakrakma (Hachwk Mwtai) Talk with Manik Jamatia, 1 November 2020

Url: https://youtu.be/YB2b9e7ceHY?si=DqAn5HJLC-CjPZj7G

****

जहाँ पर्वों में प्रकृति मुस्कराती है (कहानी)

चंद्र कुमार ग्वाला
(पूर्व सहायकाचार्य)
सरस्वती सिनियर सेकेंडरी शिशु निकेतन, रामपुर, डलु, काछार
दूरभाष - 7896388414

सीतामढ़ी। बिहार की कोख में बसा यह गाँव बहुत बड़ा नहीं था, लेकिन उसकी आत्मा उतनी ही विशाल थी जितनी कि गंगा की धार। यहाँ की जिन्दगी नदी की धारा की तरह बहती थी ऋतुओं के साथ, खेतों के साथ और त्योहारों की धड़कनों के साथ। जहाँ सावन में कांवड़ियों की टोली गाँव को हरियाली से सराबोर कर देती थी, वहीं कार्तिक में गाँव की साँसों में पूजा की सोंधी गूंज सुनाई देती थी। यह कहानी शुरू होती है मिथिलेश कुमार से एक बी ए अंतिम वर्ष का छात्र, जो पटना में पढ़ता था लेकिन हर साल दीपावली और छठ के लिए अपने गाँव लौट आता था। इस बार गाँव आते ही उसे कुछ बदला-बदला सा महसूस हुआ। घाट के किनारे प्लास्टिक की झालरें टंगी थीं, बिजली की चकाचौंध में सजी सजावट थी और हर नुक्कड़ पर मोबाइल थामे किशोर किशोरियां, वीडियो और रील बनाने में व्यस्त थे। पूजा की तैयारी हो रही थी, पर सब कुछ जैसे किसी कार्यक्रम की मंच सज्जा लग रही थी। श्रद्धा जैसे शोर में खो गई थी और प्रकृति कहीं पृष्ठभूमि में छुप गई थी।

रात को जब वह अपनी दादी के पास आँगन में बैठा, तो सहज ही पूछ बैठा "दादी, पहले छठ पूजा कैसी होती थी? जब आप व्रत करती थीं तब?"

दादी मुस्कुरा पड़ीं। उनकी झुर्रियों में छुपा बचपन जैसे फिर से जाग उठा। "बबुआ," उन्होंने कहा, "तब ना घाट पर बिजली की बत्तियाँ होती थीं, ना ही डीजे का शोर। नदी खुद रोशनी देती थी, सूरज की किरणें और महिलाओं की गीतों की गूंज ही माहौल बनाते थे। केले के पत्ते, गन्ने की मट, मिट्टी के दीप और आस्था बस यही था साज-सज्जा। नदी के जल में जब दीप तैरते थे, तो लगता था जैसे जल में ही आकाश उतर आया हो।"

उस रात मिथिलेश को नींद नहीं आयी। दादी की बातों ने उसके मन में कुछ जगा दिया था कुछ जो बचपन से था, लेकिन शहरी जीवन की रफ्तार में दब गया था। अगली सुबह वह उठते ही अपने बाल सखाओं को बुलाने लगा गोपाल, रंजन, अमन, राधा, पायल, सुधीर, उमा... वे सब जो कभी गाँव की पाठशाला में साथ पढ़ते थे, अब बड़े हो चुके थे, लेकिन गाँव की मिट्टी अब भी उनके पाँवों से चिपकी थी।

मिथिलेश ने गाँव की बदलती छवि पर बात की। उसने कहा, "हमारा पर्व सिर्फ़ उत्सव नहीं है, वह हमारी संस्कृति की आत्मा है। अगर हम इसे सिर्फ़ दिखावे और प्रदर्शन का माध्यम बना देंगे, तो धीरे-धीरे इसका अर्थ खो जाएगा। हमारी अगली पीढ़ी को यह समझ नहीं आएगा कि छठ में सूर्य को अर्घ्य देने का मतलब सिर्फ़ पूजा नहीं, प्रकृति के प्रति आभार है।"

सभी थोड़ी देर तक चुप रहे। गोपाल ने धीरे से कहा, "और बाकी गाँव वाले? वे कहेंगे हम पुराने ढर्रे के हैं।" मिथिलेश मुस्कुराया, "हम पुराने नहीं हैं... हम बस अपनी जड़ें याद दिला रहे हैं।"

तभी एक स्वर पायल का आया, "तो फिर इस बार की छठ, वैसी होनी चाहिए जैसी हमारी दादी-नानी मनाती थीं।"

फैसला हो गया। संकल्प लिया गया इस बार छठ बिना प्लास्टिक, बिना डीजे, बिना बिजली की लाइट के होगी। घाट की सफाई गाँव के बच्चे करेंगे। प्रसाद के लिए पत्तों की डलियाँ बनेंगी, सजावट फूलों से होगी, दीप मिट्टी के होंगे और नदी को फिर से पवित्रता की अनुभूति दी जाएगी। नीम और तुलसी के पत्तों से घाट पर शुद्धिकरण होगा।

धीरे-धीरे गाँव के बुज़ुर्ग भी जुड़ने लगे। उन्हें जैसे अपनी ही जवानी के दिन फिर से दिखने लगे। महिलाएँ गुनगुनाने लगीं - "केलवा के पात पर उगेलन सूरज मल झार..."। कुछ ही दिनों में पूरा गाँव एक परिवर्तन की ओर बढ़ने लगा।

छठ का दिन आया। घाट पर गन्ने की मट बाँधी गई, आम के पत्तों की माला सजाई गई। कहीं कोई डीजे नहीं, बस स्वर थे मिलते-जुलते, श्रद्धा से भरे और नदी की लहरों से गूंजते। सूरज की पहली किरण जब जल पर पड़ी और दीपों की परछाइयाँ लहरों के साथ बहने लगीं, तो बच्चों ने कहा, "ये तो जैसे जल में तारे उतर आए हों।"

दादी ने अर्घ्य देने के बाद एक दीप जलाया और नदी में छोड़ते हुए कहा, "बबुआ, देखो... जब पूजा धरती और जल के साथ मिलकर होती है, तब ही वह पूरी होती है। वरना बस रस्में रह जाती हैं।"

छठ के बाद आई दिवाली। इस बार फिर से चुनौती थी इलेक्ट्रिक झालरों से दूर रहना। मिथिलेश ने गाँव के बच्चों को एकत्र किया। उसने कहा, "जब तुम मिट्टी का दीप जलाते हो, तो तुम सिर्फ़ अपने घर को नहीं, किसी गरीब कुम्हार के घर को भी रोशनी देते हो। दीपक की लौ जो जलती है, वह पर्यावरण को नुकसान नहीं पहुंचाती, बल्कि वातावरण को पवित्र करती है।"

फिर 'एक दीप पृथ्वी के नाम' का संकल्प लिया गया। हर घर ने अपने आँगन में एक दीप धरती माँ के लिए जलाया। रंगोली फूलों की बनी, बांस की टोकरी में मिठाइयाँ सजीं, आम के पत्तों से दरवाज़े सजाए गए। गाँव में ऐसा लगा जैसे समय ने पीछे मुड़कर फिर से अपनी सबसे सुंदर स्मृति को जी लिया हो।

इसके बाद मिथिलेश ने एक परंपरा और शुरू की — हर त्योहार पर एक पेड़ लगाने की। होली पर अमलतास, दिवाली पर आम और आँवला, रक्षा बंधन पर नीम और छठ के बाद तुलसी और पीपल। बच्चे गड्ढे खुदवाते, पौधे लाते और हर पेड़ को किसी की स्मृति से जोड़ते, "ये मेरी छोटी बहन की पहली छठ का स्मारक है", "ये वाला दादी के नाम पर है"। अब त्योहार केवल एक दिन का उत्सव नहीं रहा, वह हरियाली में स्थायी हो गया था।

कुछ वर्षों में सीतामढ़ी एक उदाहरण बन गया। आस-पास के गाँवों से लोग यहाँ आने लगे, छठ के घाट को देखने, दीपों को महसूस करने और पर्वों में फिर से प्रकृति को खोजने। स्कूल के बच्चों ने एक नाटक किया, जिसमें धरती माँ कहती थीं, "जब तुम मुझे अपने पर्वों से जोड़ते हो, तब मैं भी तुम्हें आशीर्वाद देती हूँ — फसलों में, जल में, वायु में और जीवन में।"

मिथिलेश अब अपनी पढ़ाई पूरी कर अधिकारी बन चुका है, लेकिन उसका मन अब भी वही है। हर वर्ष पर्वों पर वह गाँव आता है, घाट पर झाड़ू लगाता है, बच्चों के साथ दीप बनाता है और पेड़ लगाता है। उसे किसी मंच पर भाषण देने की ज़रूरत नहीं पड़ी, ना ही किसी सोशल मीडिया पर प्रचार की। उसने बस अपने त्योहारों को जिया, जैसे उसकी दादी ने सिखाया था।

एक बार फिर छठ की सुबह घाट पर दादी खड़ी थीं। उन्होंने नदी की ओर देखते हुए कहा, "बबुआ, देखो... सूर्य को दिया गया अर्घ्य अब भी वही है, पर अब उसमें फिर से वो सौंदर्य है, जो हमने कभी खो दिया था। अब हमारे पर्वों में फिर से प्रकृति मुस्कुराती है।" □□

प्रकृतिः पञ्चभूतानि ग्रहा लोका स्वरास्तथा।
दिशः कालश्च सर्वेषां सदा कुर्वन्तु मङ्गलम् ॥ 2 ॥

(तीन गुणों से युक्त) प्रकृति, पाँच भूत, (नौ) ग्रह, (तीन) लोक, (सात) स्वर, दसों दिशाएं और (तीनों काल) सदा सब का मंगल करें। (भारत एकात्मता स्तोत्र)

विद्या भारती

अखिल भारतीय शिक्षा संस्थान

हमारा लक्ष्य

हमारा लक्ष्य इस प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास करना है जिसके द्वारा हिन्दुत्वनिष्ठ एवं राष्ट्रभक्ति से ओत-प्रोत तथा शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण विकसित युवा पीढ़ी का निर्माण हो, जो जीवन की वर्तमान चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक कर सके और जिसका जीवन नगरों, ग्रामों, वनों, गिरिकन्दराओं एवं चुनौतीपूर्ण क्षेत्रों में निवास करने वाले वंचित और अभावग्रस्त अपने बांधवों को सामाजिक कुरीतियों एवं अन्याय से मुक्त कराकर राष्ट्रजीवन को सुसंस्कृत, समरस, तथा सुसम्पन्न बनाते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव से प्रेरित हो कर विश्वकल्याण के लिये समर्पित हों।

Footprint in Northeast, Bharat

Schools ≫ 648

Students ≫ 1,78,773

University 1

College 1

Ekal Shiksha Kendra 822

Students: 19,162 (Free Education)

vidyabharatipurvottar.co.in

vbpurvottarkshetra@gmail.com